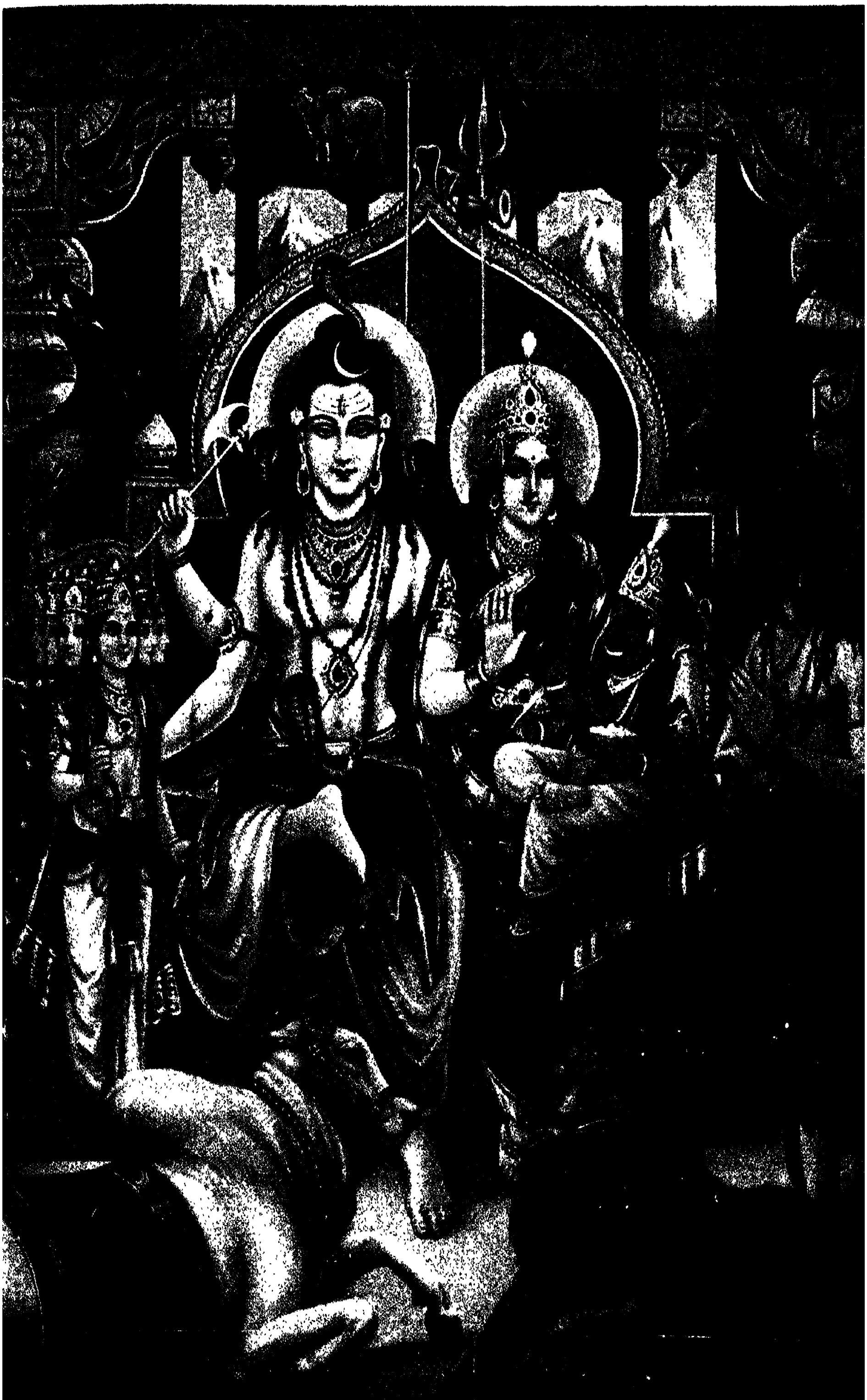


अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट काशी ।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।

निवेदन

—:ः:—

प्रथम खण्ड की विषय-सूची इस अंकके साथ सेवा में भेजी जा रही है। भूमिकामें अभी कुछ विलम्ब है अतएव उसे अगले अंकके साथ ही ग्राहकोंकी शुभ सन्निधिमें भेजना हमने उचित समझा। उसके साथ ही प्रथम खण्डके लिए कपड़ेकी सुन्दर जिल्द भी ग्राहकोंको भेंट करनेका हमारा विचार है। इसलिए अनुग्राहक ग्राहकोंसे हमारी प्रार्थना है कि 'अच्युत' का जिल्द बँधवाना अभी कुछ दिन और स्थगित रक्खें।

दूसरी प्रार्थना यह है कि 'अच्युत'का प्रथम वर्ष समाप्त हो गया है। आगामी वर्षका वार्षिक चन्दा जिनका मनिआर्डर द्वारा हमें प्राप्त नहीं होगा, उनके लिए हम दूसरे वर्षका प्रथम अंक वी० पी० से भेजेंगे। हमें आशा नहीं है कोई महाशय उसे लेनेसे इनकार करेंगे, तथापि इतना निवेदन कर देते हैं कि अनुग्राहक ग्राहक उसे वापिस कर वृथा हानि उठानेका अवसर उपस्थित न होने दें। यदि कदाचित् कोई महाशय आगेके लिए ग्राहक होना पसन्द न करें, तो उन्हें कृपया पोष्टकार्ड द्वारा सूचना दे देनी चाहिए।

निवेदक—

व्यवस्थापक।

अच्युत

विषय-सूची

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } पौष पूर्णिमा १९९१ { अङ्क १२

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

गङ्गाष्टकम् ।

भगवति भवलीलामौलिमाले तवाम्भः-
कणमणुपरिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति ।
अमरनगरनारीचामरग्राहिणीनां
विगतकलिकलङ्कातङ्कमङ्के लुठन्ति ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात् स्खलन्ती ।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु ॥ २ ॥

मज्जन्मातङ्गकुम्भच्युतमदमदिरामोदमत्तालिजालं
स्नानैः सिद्धाङ्गनानां कुचयुगविगलत्कुङ्कुमासङ्गपिङ्गम् ।
सायं प्रातर्मुनीनां कुशकुसुमचयैश्छिन्नतीरस्थनीरं
पायान्नो गाङ्गमम्भः करिकरमकराक्रान्तरंहस्तरङ्गम् ॥ ३ ॥

आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रे जलं
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम् ।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी पातु माम् ॥ ४ ॥

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्सारिणी ।
शेषाङ्गैरनुकारिणी हरशिरोवल्लीदलाकारिणी
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गामनोहारिणी ॥ ५ ॥

कुतो वीची वीचिस्तव यदि गता लोचनपथं
त्वमापीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसि ।
त्वदुत्सङ्गे गङ्गे पतति यदि कायस्तनुभृतां
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥ ६ ॥

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद ॥ ७ ॥

मातर्जाह्नवि शम्भुसङ्गमिलिते मौलौ निधायाञ्जलिं
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणाङ्घ्रिद्वयम् ।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति मम प्राणप्रयाणोत्सवे
भूयाद्भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती ॥ ८ ॥

—श्रीशङ्कराचार्यः ।

[७ इतरव्यपदेशाधिकरण सू० २१—२३]

हितक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः ।
जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥१॥
अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः ।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागता ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अपनेसे और जीवोंमें अभेद देखनेवाले ईश्वरमें हिताकरण, अहितकरण आदि दोष लागू होते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जीवके हितका न करना और अहितका करना अपना ही अहित करना और हित न करना है, वह युक्त नहीं है, इसलिए हिताकरण आदि दोष ईशमें लागू होते हैं ।

सिद्धान्त—जीवका संसार मिथ्या है, उससे मेरी कोई हानि नहीं है, ऐसा जाननेवाले ईश्वरमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं होते हैं ।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—इतरव्यपदेशात्, हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

पदार्थोक्ति—इतरव्यपदेशात्—जीवस्य 'तत्त्वमसि' इत्यादिना ब्रह्मत्वव्यपदेशात् अथवा ब्रह्मणः 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिना जीवत्वव्यपदेशात् । [ब्रह्मणः स्रष्टृत्वे जीवस्यैव स्रष्टृत्वात्] हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः—अहितजरामरणादिबहुविधानर्थकरणदोषप्रसक्तिः [ब्रह्मणः, इत्यतः चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'तत्त्वमसि' इत्यादिसे जीव ब्रह्म कहा गया है, अथवा अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और रूपको अभिव्यक्त करूँगा) इत्यादिसे ब्रह्म ही जीव कहा गया है, इसलिए ब्रह्म स्रष्टा हो तो जीव ही स्रष्टा हुआ, इससे ब्रह्मको अपना अहित जरा, मरण आदि अनेक अनर्थ करणरूप दोषकी प्रसक्ति होगी, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि परमेश्वर संसारमें आसक्त जीवोंके लिए वैराग्य आदि हितका निर्माण नहीं करता है और नरकका जनक अधर्म आदि अहितका निर्माण करता है । और निर्माण करता हुआ भी सर्वज्ञ होनेके कारण अपनेसे जीवोंका अभेद देखता है, इससे उसमें अपने ही हितका अकरण और अहितका करण प्राप्त होता है । यह उचित

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते। चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। कुतः? इतरव्यपदेशात्। इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति प्रतिबोधनात्। यद्वा, इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात्। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२)

भाष्यका अनुवाद

चेतनकारणवादका प्रकारान्तरसे फिर आक्षेप करते हैं। चेतनसे ही जगत्की यदि सृष्टि मानें, तो अपना हित न करना आदि दोष प्राप्त होंगे। किससे? इतरव्यपदेशसे। इतर अर्थात् जीवका ब्रह्मरूपसे श्रुति व्यपदेश करती है, क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि०' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) श्रुति ऐसा बोध कराती है। अथवा इतर अर्थात् ब्रह्मका जीवरूपसे व्यपदेश करती है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न कर उसीमें अनुप्रवेश किया) इस प्रकार श्रुतिने स्रष्टा अविकृत ब्रह्म ही कार्यमें अनुप्रवेश करनेसे जीव है, ऐसा दिखलाया है। 'अनेन जीवेनात्मना० (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और

रत्नप्रभा

इतरेति। जीवाभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणमिति वदन् वेदान्तसमन्वयो विषयः। स यदि तादृग् ब्रह्म जगद् जनयेत् तर्हि स्वानिष्टं नरकादिकं न जनयेत्, स्वतन्त्रचेतनत्वादिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वोक्तजीवानन्यत्वमुपजीव्य जीवदोषा ब्रह्मणि प्रसज्येरन् इति पूर्वपक्षसूत्रं गृहीत्वा व्याचष्टे—**इतरव्यपदेशादित्या-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इतर" इत्यादि। जीवसे अभिन्न ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। यदि जीवाभिन्न ब्रह्म जगत्को उत्पन्न करता, तो अपने अनिष्टभूत नरक आदिको उत्पन्न न करता, इस न्यायसे समन्वयका विरोध होता है अथवा नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वोक्त जीवाभेदके आधारपर जीवदोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे,

---

नहीं है। ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं है जो अपने हितको न करे और अहितको करे। इसलिए परमेश्वरमें हिताकरणादि दोष लागू होते हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए वह जीवका संसार मिथ्या है और वह स्वयं निर्लेप है, इस बातका जानता है। अतः उसमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं हैं।

भाष्य

इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद् यद् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवाऽऽत्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाऽहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्, कृतमपि कथंचिद् यद् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात्, सुखकरं चोपाददीत, स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति। यथा च

भाष्यका अनुवाद

रूपको स्पष्ट करूँगा) इस प्रकार परब्रह्म जीवका आत्मशब्दसे व्यपदेश कर जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा दिखलाता है। इसलिए ब्रह्मका जो स्रष्टृत्व है वह जीवका ही है। इसलिए जीव स्वतंत्र कर्ता होकर अपना सुखप्रद हित ही करेगा, और जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेक अनर्थरूप अहित न करेगा। क्योंकि स्वतंत्र होकर कोई भी अपने लिए स्वयं बन्धनगृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता। इसी प्रकार स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर अत्यन्त मलिन देहको अपनी आत्मा नहीं समझता। किसी प्रकार दुःखकारक जगत्की सृष्टि करनेपर भी उसका इच्छानुसार त्याग कर देता और जो सुखकारक है, उसका ग्रहण करता। और मैंने यह विचित्र जगद्बिम्ब रचा है, ऐसा स्मरण करता। क्योंकि सब लोग कार्य करके मैंने यह किया है, ऐसा स्पष्ट स्मरण करते हैं। और जैसे मायावी

रत्नप्रभा

दिना। पूर्वपक्षे जीवाभिन्ने समन्वयाऽसिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम्। हिताकरणेत्यत्र नञ्व्यत्यासेनाऽहितकरणं दोषो व्याख्यातः। आदिपदोक्तं भ्रान्त्यादिकमापादयति—न च स्वयमित्यादिना ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"इतरव्यपदेशाद्" इत्यादिसे। जीवाभिन्न ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, समन्वयकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। सूत्रगत हिताकरण शब्दके नञ्का व्यत्यास करके अहितकरण दोषका व्याख्यान किया गया है। आदिपदसे उक्त भ्रान्ति आदिका आपादन करते हैं—"न च स्वयम्" इत्यादिसे ॥२१॥

भाष्य

मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

अपनी फैलाई हुई मायाका इच्छानुसार बिना कठिनाईके उपसंहार करता है, उसी प्रकार जीव भी इस सृष्टिका उपसंहार करता। परन्तु जीव अपने शरीरका भी अनायास उपसंहार करनेकी शक्ति नहीं रखता। इस प्रकार हितक्रिया आदि नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे जगत्की सृष्टिकी कल्पना अन्याय्य है, ऐसा समझा जाता है ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अधिकम्, तु, भेदनिर्देशात्।

पदार्थोक्ति—अधिकं तु—शारीराद् भिन्नं [सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म जगत्स्रष्टृ ब्रमस्ततो] न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः [कुतः जीवब्रह्मभेदः ?] भेदनिर्देशात्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिना कल्पितभेदस्य व्यपदेशात् [नित्यमुक्तस्य च ब्रह्मणो हिताहिताभावात्]।

भाषार्थ—जीवसे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मको हम जगत्का स्रष्टा कहते हैं, इसलिए उसके हिताकरण आदि दोष नहीं हैं। जीव और ब्रह्ममें भेद किस प्रमाणसे है? क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इत्यादिसे कल्पित भेद कहा गया है। नित्यमुक्त ब्रह्मका तो कोई पदार्थ हित या अहित है ही नहीं।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन् प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षका निराकरण करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त ब्रह्म जीवसे भिन्न है, उसे हम जगत्का उत्पादक कहते हैं। उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि उसे न तो कोई अपना हित करना है और न अहितका परिहार करना है, क्योंकि वह मुक्तस्वरूप है। उसके ज्ञान और शक्तिका कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीव तो ऐसा नहीं है, अतः उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु उसको हम जगत्का उत्पादक नहीं कहते हैं। यह किससे? भेदका निर्देश होनेसे। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि! आत्माका दर्शन

रत्नप्रभा

अधिकन्त्विति। जीवेशयोरभेदाद् जीवगताः दोषा ब्रह्मणि स्युः, ब्रह्मगताश्च सृष्टिसंहारसर्वस्मर्तृत्वादयो गुणा जीवे स्युः, न चेष्टापत्तिः, जीवस्य स्वशरीरेऽपि संहारसामर्थ्यादर्शनादिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**तुशब्द इत्यादिना**। जीवेश्वरयोर्लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव कल्पितभेदाङ्गीकाराद् धर्मव्यवस्थेति सिद्धान्तग्रन्थार्थः। यदि वयं जीवं स्रष्टारं ब्रूमः, तदा दोषाः प्रसज्यन्ते न तु तं ब्रूमः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अधिकं तु" इत्यादि। जीव और ईश्वर यदि अभिन्न हों, तो जीवके दोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे और ब्रह्ममें रहनेवाले सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व आदि धर्म जीवमें प्रसक्त होंगे, इसमें इष्टापत्ति तो नहीं हो सकती है, क्योंकि जीव अपने शरीरका संहार करनेकी भी सामर्थ्य नहीं रखता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तु शब्दः" इत्यादिसे। सिद्धान्तग्रन्थका आशय यह है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें जैसे भेदका स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार व्यवहारमें जीव और ईश्वरमें भी कल्पित भेदका अंगीकार किया जाता है, इससे धर्मोंकी व्यवस्था होती है। यदि हम जीवको स्रष्टा कहें, तो दोष प्रसक्त होंगे, जीवको तो हम

भाष्य

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेताम्। नैष दोषः। महाकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाऽभेदनिर्देशेनाऽभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसकी खोज करनी चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'सता सोम्य तदा०' (हे सोम्य ! सुषुप्ति समयमें जीव सत्‌के साथ संपन्न हो जाता है), 'शारीर आत्मा०' (मरणकालमें जीवात्मा परमात्मासे अधिष्ठित होकर घोर शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार कर्ता, कर्म आदिके भेदका निर्देश जीवसे ब्रह्ममें भेद दिखलाता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है तो भेद और अभेद जो परस्पर विरुद्ध हैं उन दोनोंका किस प्रकार संभव हो सकता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि महाकाश, और घटाकाशके न्यायसे भेद और अभेद दोनोंका संभव तत्तत् स्थलोंमें दिखलाया गया है। और जब 'तत्त्वमसि' इस प्रकार अभेद निर्देशसे अभेद प्रतिबोधित होता है तब जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्व जाता रहता है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे जन्य समस्त भेदव्यवहार सम्यग् ज्ञानसे बाधित हो जाता है। ऐसी अवस्थामें सृष्टि,

रत्नप्रभा

इति अन्वयः। किञ्च, भेदज्ञानाद् ऊर्ध्वं वा दोषा आपाद्यन्ते पूर्वं वा ? नाऽऽद्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्रष्टा कहते हैं नहीं, ऐसा अन्वय है। और अभेदज्ञानके अनन्तर दोषोंका आपादन किया जाता है अथवा पहले ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं--"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

हिताकरणादयो दोषाः। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरण-संघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनाऽवगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

हितका न करना आदि दोष कहांसे हो सकते हैं ? हित न करने आदिसे लक्षित हुआ संसार अविद्यासे खड़े किए हुए नामरूपसे उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके अविवेकसे जनित भ्रान्ति है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा हम पीछे अनेक बार कह चुके हैं, जैसे कि शरीरका जन्म, मरण, छेदन, भेदन आदिकी आत्मामें प्रतीति होती है। परन्तु जब तक भेदव्यवहार बाधित न हो, तब तक व्यवहार दशामें 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसका अन्वेषण करना चाहिए) उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) इस प्रकारके भेदनिर्देशसे ज्ञात होनेवाला ब्रह्मगत भेद हित न करने आदि दोषोंकी प्राप्तिको रोकता है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

इत्याह—**अपि चेति**। उक्तं मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वं स्फुटयति—**अविद्येति**। कर्तृत्वादिबुद्धिधर्माध्यासे देहधर्माध्यासं दृष्टान्तयति—**जन्मेति**। द्वितीयं प्रत्याह—**अबाधिते त्विति**। ज्ञानाद् ऊर्ध्वं स्रष्टृत्वादिधर्माणां बाधात् पूर्वं च कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेर्न किञ्चिद् अवद्यमित्यर्थः ॥२२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वको स्पष्ट करते हैं—"अविद्या" इत्यादिसे। कर्तृत्व आदि बुद्धिके धर्मोंके अध्यासमें देहके धर्मोंके अध्यासको दृष्टान्तरूपसे कहते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षके विषयमें कहते हैं—"अबाधिते तु" इत्यादि। ज्ञानके अनन्तर स्रष्टृत्व आदि धर्मोंका बाध हो जाता है और ज्ञानसे पहले कल्पित भेदसे व्यवस्था हो सकती है, इसलिए कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अश्मादिवत्, च, तदनुपपत्तिः।

पदार्थोक्ति—अश्मादिवच्च—एकपृथिवीजन्यानां अश्मनां यथा वज्रवैडूर्यादिभेदेन वैचित्र्यम् [तथा ब्रह्मकार्याणां स्वरूपवैचित्र्यं युज्यते, अतः] तदनुपपत्तिः—परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिः।

भाषार्थ—एक पृथिवीसे उत्पन्न हुए पत्थरोंमें जैसे वज्र, वैडूर्य आदि भेदसे विचित्रता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मके कार्योंका भी स्वरूपवैचित्र्य युक्त ही है, इसलिए अन्यकल्पित दोष संगत नहीं हैं।

भाष्य

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचम्पकादिषूपलक्ष्यते। यथा चैकस्याऽप्यन्नरसस्य लोहितादीनि

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें सभी पत्थरोंके साधारणतया पृथिवीत्व जातिसे युक्त होनेपर भी उनमें कितने ही वज्र, वैडूर्य आदि अति मूल्यवान् पत्थर हैं, दूसरे सूर्यकान्त आदि मध्यम मूल्यके हैं और दूसरे निकृष्ट पत्थर कुत्ते और कौओंपर फेंकनेके काममें आते हैं, ऐसा अनेक प्रकारका वैचित्र्य दिखाई देता है। और जैसे एकही पृथिवीमें बोये गये बीजोंके पत्ते, फूल, फल, गन्ध, रस आदिमें अनेक प्रकारका वैचित्र्य चन्दन, ताड़ आदिके वृक्षोंमें दिखाई देता

रत्नप्रभा

ननु अखण्डैकरूपे ब्रह्मणि कथं जीवेश्वरवैचित्र्यं कथञ्च तत्कार्यवैचित्र्यम् इति अनुपपत्तिं दृष्टान्तैः परिहरति सूत्रकारः—**अश्मादिवच्चेति**। किंपाकः—महातालफलम्। तत्तत्कार्यसंस्काररूपानादिशक्तिभेदाद् वैचित्र्यमिति भावः। सूत्रस्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अखण्ड एकरूप ब्रह्ममें जीवेश्वरभेद किस प्रकार है और उसके कार्योंकी विचित्रता किस प्रकार है, सूत्रकार दृष्टान्तप्रदर्शन द्वारा इस अनुपपत्तिका परिहार करते हैं—"अश्मादिवच्च" इत्यादिसे। किम्पाक—बड़ा ताड़का फल। तत्तत् कार्यसंस्काररूप अनादि शक्तियोंके भेदसे

भाष्य

केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति । एवमेकस्याऽपि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः–परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः । श्रुतेश्च प्रामाण्याद् विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात् । स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है और इसी प्रकार जैसे एकही अन्नरसके रुधिर आदि और केश, लोम आदि विचित्र कार्य होते हैं, उसी प्रकार एकही ब्रह्मका भी जीव और प्राज्ञरूपसे पृथक्त्व और कार्यवैचित्र्य उपपन्न होता है, इससे वह दोष अनुपपन्न है, पर परिकल्पित दोष अनुपन्न ऐसा भावार्थ है । श्रुतिके प्रमाण होनेसे और विकारके केवल वागारम्भण-मात्र होनेसे स्वप्नमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंके वैचित्र्यके समान ऐसा अभ्युच्चय है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

चकारार्थमाह—श्रुतेश्चेति । ब्रह्म जीवगतदोषवत्, जीवाभिन्नत्वात्, जीववद् इत्यादि अनुमानं स्वतःप्रमाणनिरवद्यत्वादिश्रुतिबाधितम् । किञ्च, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविकारस्य मिथ्यात्वाद् जीवस्यैव तावद् दोषो नास्ति कुतो बिम्बस्थानीयस्य अशेषविशेषदर्शिनः परमेश्वरस्य दोषप्रसक्तिः । यत्तु ब्रह्म न विचित्रकार्यप्रकृति, एकरूपत्वाद्, व्यतिरेकेण मृत्तन्त्वादिवद्, इति तन्न एकरूपे स्वप्नदृशीव विचित्रदृश्यवस्तुवैचित्र्यदर्शनेन व्यभिचारादित्यर्थः । तस्मात् प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि समन्वयस्य अविरोध इति सिद्धम् ॥२३॥ (७) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचित्रता है, यह भाव है । सूत्रगत चकारका अर्थ कहते हैं—"श्रुतेश्च" इत्यादिसे । ब्रह्म जीवगतदोषयुक्त है, जीवसे अभिन्न होनेके कारण, जीवके समान, इत्यादि अनुमान स्वतः प्रमाण होनेसे निर्दुष्ट श्रुतिसे बाधित है । और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारोंके मिथ्या होनेसे जब जीवमें ही दोष नहीं है, तब बिम्बस्थानीय, सब विशेषोंको देखनेवाले परमेश्वरमें दोषका प्रसंग कहांसे होगा । यह जो कथन है कि ब्रह्म विचित्र कार्यका उपादान कारण नहीं है, एकरूप होनेसे, व्यतिरेकसे मृत्, तन्तु आदिके समान, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकरूप स्वप्नद्रष्टामें विचित्र दृश्य वस्तुओंकी विचित्रता देखनेमें आती है, इसलिए हेतुका व्यभिचार है । इससे सिद्ध हुआ कि जीवाभिन्न ब्रह्ममें वेदान्तसमन्वयका विरोध नहीं है ॥२३॥

[८ उपसंहारदर्शनाधिकरण २४—२५]

न संभवेत् संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः ।
नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाऽविद्यासहायवत् ।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः* ॥१॥

सन्देह—एक अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टि हो सकती है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—विचित्र कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक कारणसे नहीं हो सकती है ।

सिद्धान्त—यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे अनेक विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकता है । और अविद्याकी शक्तियोंसे कार्यक्रमकी व्यवस्था हो सकती है ।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

पदच्छेद—उपसंहारदर्शनात्, न, इति, चेत्, न, क्षीरवत्, हि ।

पदार्थोक्ति—उपसंहारदर्शनात्—लोके कर्तुः कुलालस्य दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनात्, न—नासहायं ब्रह्म जगतः प्रकृतिर्निमित्तं वा, इति चेत्, न, क्षीरवद्धि—यथा क्षीरं अन्यानपेक्षं दध्याकारेण परिणमते तथा ब्रह्मापि [अन्यानपेक्षं जगत्सर्जनादि करोति] ।

भाषार्थ—लोकमें घटादि कार्योंके कर्ता कुलालका दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंको जुटाना दिखाई देता है, इसलिए असहाय ब्रह्म जगत्का उपादान या निमित्त कारण नहीं हो सकता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे दूध अन्य पदार्थकी अपेक्षाके विना ही दही आदिके रूपसे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही जगत्की सृष्टि आदि करता है ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिसे ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदोंसे रहित प्रतीत होता है । स्रष्टव्य पदार्थ आकाश, वायु, अग्नि आदि तो विचित्र हैं । यदि कारण विचित्र न हो, तो कार्यमें विचित्रता नहीं आ सकती है । अन्यथा केवल दूध हीसे दही, तेल, आदि अनेक विचित्र कार्य उत्पन्न हो जाने चाहिएँ । श्रुतिसे आकाश आदिकी सृष्टिमें क्रम प्रतीत होता है । परन्तु क्रमका व्यवस्थापक कोई नहीं है । इसलिए अनेक कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक अद्वितीय ब्रह्मसे नहीं हो सकती ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि वस्तुतः ब्रह्म एक ही है, तो भी 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति जानो, महेश्वरको मायावी जानो) इत्यादि श्रुति, युक्ति और

भाष्य

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिलाद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चाऽसहायं तवाऽभिप्रेतं तस्य साधना-

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म, एक, अद्वितीय और जगत्का कारण है ऐसा जो कहा है वह उपपन्न नहीं होता। किससे? इससे कि उपसंहार देखनेमें आता है। इस लोकमें घट, पट, आदिके कर्त्ता, कुलाल आदि मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत, जल आदि अनेक प्रकारके साधनोंके सम्मेलनसे साधनयुक्त होकर उस उस कार्यको करते हुए दिखाई देते हैं। तुम्हारे मतमें ब्रह्म असहाय है, ऐसी परिस्थितिमें अन्य साध-

रत्नप्रभा

उपसंहारदर्शनादिति। असहायाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषयः। स किं 'यदसहायं तन्न कारणम्' इति लौकिकन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद् ब्रह्मणि जीवदोषा न प्रसज्यन्ते इत्युक्तम्, सम्प्रति उपाधितोऽपि विभक्तस्य ब्रह्मण प्रेरकादिकं सहकारि नास्ति ईशनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षसूत्रांशं व्याचष्टे—चेतनमित्यादिना। फलं पूर्ववत्। कारकाणाम् उपसंहारः—मेलनम्। उक्तन्यायस्य क्षीरादौ व्यभिचार इति सिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उपसंहारदर्शनात्" इत्यादि। असहाय ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। उक्त समन्वयका, जो असहाय है, वह कारण नहीं हो सकता इस लौकिक न्यायसे विरोध है, या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वाधिकरणमें औपाधिक जीवसे भेद होनेके कारण ब्रह्ममें जीवदोष प्रसक्त नहीं होंगे, ऐसा कहा है, अब उपाधिसे भिन्न भी ब्रह्मका प्रेरक आदि सहकारि पदार्थ कोई नहीं है, क्योंकि ईश्वर अनेक नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रके एक भागका व्याख्यान करते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका फल पूर्वाधिकरणके समान समझना चाहिए। कारकोंका उपसंहार—मेलन। उक्त न्याय क्षीर

अनुभवोंसे ज्ञात होता है कि अविद्या उसकी सहायक है। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि मायाका अंगीकार करनेसे द्वैतकी आपत्ति होगी, क्योंकि वास्तवमें द्वितीय पदार्थ नहीं है। इसलिए ब्रह्म एक होनेपर भी अविद्याकी सहायतासे अनेक कार्योंको करता है। यह बात नहीं है कि कार्यक्रमका कोई व्यवस्थापक नहीं है, क्योंकि अविद्याकी शक्तियां कार्यक्रमकी व्यवस्थापिका हैं। इससे सिद्ध है कि अद्वितीय ब्रह्मसे अनेक कार्योंकी क्रमसे सृष्टि होती है।

भाष्य

न्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत। तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, नैष दोषः। यतः क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमकरकादिभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनम्, तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकम्। कथमुच्यते क्षीरवद्धीति ? नैष दोषः। स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता

भाष्यका अनुवाद

नोंके संग्रहके बिना वह स्रष्टा हो, यह कैसे उपपन्न हो सकता है। इसलिए ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि क्षीरके समान द्रव्यके स्वभाव विशेषसे उपपन्न होगा, जैसे लोकमें क्षीर या जल बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना स्वयं ही दही या बरफ बन जाता है, वैसे यहां भी होगा। परन्तु दूध आदि भी दही आदिके रूपमें परिणत होनेके लिए उष्णता आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखते ही हैं। इसलिए 'क्षीरके समान, ऐसा क्यों कहा है ? यह दोष नहीं है। क्षीर स्वयं ही जिस और जितनी परिणाममात्राको प्राप्त होता है, उष्णता आदि द्वारा भी उतनी ही परिणाममात्रा प्राप्त होती है, किन्तु उनसे उसमें दही बननेके लिए त्वराकी जाती है। यदि उसका स्वयं दधि बननेका स्वभाव न हो, तो

रत्नप्रभा

न्तयति—नैष दोष इति। शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वमिष्टमेव विशिष्टस्य ईश्वरस्य तु मायैव सहाय इति भावेनाऽऽह—बाह्यमिति। क्षीरस्याऽप्यातञ्चनादिसहायोऽस्तीत्यसहायत्वहेतोर्न व्यभिचार इत्याशङ्क्य सहायाभावेऽपि यस्य कस्यचित् परिणामस्य क्षीरे दर्शनादव्यभिचारतादवस्थ्यमित्याह—नन्वित्यादिना। तर्हि सहायो व्यर्थस्तत्राह—त्वार्यते इति। ननु त्वार्यते क्षीरं दधिभावाय शैघ्र्यं कार्यते इति किमर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिमें व्यभिचरित है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। शुद्ध ब्रह्मका कारण न होना इष्ट ही है, मायाविशिष्ट ईश्वरकी तो माया ही सहाय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—"बाह्यम्" इत्यादिसे। क्षीरके जोरन डालना आदि सहाय हैं, इसलिए असहायत्व हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी आशंका कर कोई सहाय न रहने पर भी क्षीरका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, इसलिऐ व्यभिचार ज्योंका त्यों है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। तब क्षीरके परिणामके लिए सहाय व्यर्थ है, इसपर कहते हैं—"त्वार्यते" इत्यादि। परन्तु

भाष्य

न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमापद्यते। साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्याऽन्येन केनचित् पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।२) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणाम उपपद्यते॥ २४॥

भाष्यका अनुवाद

उष्णता आदि बलात्कारसे उसे दहीके रूपमें परिणत नहीं कर सकते, क्योंकि वायु अथवा आकाशको उष्णता आदि बलात्कारसे दही कदापि नहीं बना सकते हैं। साधन सामग्रीसे उसकी पूर्णता होती है। परन्तु ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्तिवाला है। उसकी पूर्णता अन्य किसीसे सम्पादित नहीं होती। श्रुति भी है—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते०' (उसके कार्य—शरीर या करण—नेत्र आदि इन्द्रियसमूह विद्यमान नहीं है, उसका तुल्य—सजातीय या उससे अधिक—विजातीय नहीं दीखता, शक्ति—मूल कारण माया—महान् और विविध ही सुनी जाती है और उसकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया स्वाभाविक है) इसलिए एक भी ब्रह्मका विचित्र शक्तिके योगसे दूध आदिके समान विचित्र परिणाम उपपन्न होता है॥ २४॥

रत्नप्रभा

कल्प्यते, स्वतोऽशक्तं क्षीरं सहायेन शक्तं क्रियते इति किं न स्यात्? तत्राह—**यदि चेति**। शक्तस्य सहायसम्पदा किं कार्यमित्यत्राह—**साधनेति**। सहायविशेषाभावे कश्चिद्विकारः क्षीरस्य भवति, तत्र आतञ्चनप्रक्षेपौष्ण्याभ्यां तु उत्तमदधिभावसामर्थ्यं व्यज्यते इत्यर्थः। तर्हि शक्तिव्यञ्जकोऽपि सहायो ब्रह्मणो वाच्यः तत्राऽऽह—**परिपूर्णेति**। निरपेक्षमायाशक्तिकमित्यर्थः। तादृशशक्तौ मानमाह—**श्रुतिश्चेति**॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'त्वार्यते' का क्षीर दधि होनेके लिए शीघ्रतायुक्त किया जाता है, ऐसे अर्थकी कल्पना क्यों की जाती है, स्वयं असमर्थ क्षीर सहायसे समर्थ किया जाता है, ऐसा अर्थ क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि। यदि क्षीर स्वयं समर्थ हो, तो उसको सहायकी क्यों आवश्यकता है, इसपर कहते हैं—"साधन" इत्यादि। सहायविशेष न हो, तो भी क्षीरका कोई विकार हो जाता है, परन्तु क्षीरको गरम करना, जोरन डालना आदिसे उत्तम दधि होनेकी सामर्थ्य उसमें व्यक्त की जाती है, ऐसा अर्थ है। तब शक्तिको व्यक्त करनेवाला कोई सहायक ब्रह्मके लिए भी कहना चाहिए, इसपर कहते हैं—"परिपूर्ण" इत्यादिसे। अन्यकी अपेक्षा न करनेवाली मायारूप शक्तिसे विशिष्ट है, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मकी ऐसी शक्ति है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

पदच्छेद—देवादिवत्, अपि, लोके ।

पदार्थोक्ति—लोके—मन्त्रार्थवादेतिहासादौ, देवादिवत्—यथा देवाः, पितरः, ऋषय इत्येवमादयश्चेतना बाह्यं साधनमनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्रेणैव नानाविधकार्यकर्तार उपलभ्यन्ते तद्वत् [ब्रह्म] अपि [असहायमेव जगदुपादानं कर्तृ च] ।

भाषार्थ—जैसे मंत्र, अर्थवाद, इतिहास आदिमें चेतन देवता, पितृगण, ऋषि आदि बाह्य साधनके बिना संकल्पमात्रसे ही अनेकविध कार्य करनेवाले उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी असहाय होकर ही जगत्का उपादान एवं निमित्तकारण होता है ।

भाष्य

स्यादेतत्, उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनामनपेक्ष्याऽपि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात् । चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति । देवादिवदिति ब्रूमः । यथा लोके देवाः, पितरः, ऋषय

भाष्यका अनुवाद

ठीक है, क्षीर आदि अचेतन पदार्थ बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना भी दहीके रूपमें परिणत हो सकते हैं क्योंकि ऐसा देखा गया है । परन्तु चेतन कुलाल आदि साधन सामग्रीकी अपेक्षा करके ही उस उस कार्यमें प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं, तो ब्रह्म चेतन होकर साधनसामग्रीके बिना किस प्रकार प्रवृत्त होगा ? हम कहते हैं कि देवता आदिके समान । जैसे लोकमें देवता, पितर,

---

रत्नप्रभा

ननु ब्रह्म न कारणं चेतनत्वे सति असहायत्वाद् मृदादिशून्यकुलालादिवदिति न क्षीरादौ व्यभिचार इति सूत्रव्यावर्त्यां शङ्कामाह—**स्यादेतदिति** । तस्याऽपि हेतोः देवादौ व्यभिचार इत्याह—**देवादिवदिति** । लोक्यते ज्ञाप्यतेऽर्थोऽनेनेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म कारण नहीं है, चेतन होकर असहाय होनेसे, मृत्तिका आदिसे रहित कुलाल आदिके समान, इस अनुमानका क्षीर आदिमें व्यभिचार नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रसे निवर्तनीय शंकाको कहते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । उक्त हेतुका भी देवता आदिमें व्यभिचार है, ऐसा

भाष्य

इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चाऽन्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी च, अनपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोन्तरात् सरोन्तरं प्रतिष्ठते एवं चेतनमपि ब्रह्माऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता

भाष्यका अनुवाद

ऋषि आदि महाप्रभाव चेतन होते हुए भी किसी भी बाह्य साधनकी अपेक्षा न करके ऐश्वर्य्य विशेषके सम्बन्धसे केवल सङ्कल्पमात्रसे अपने आपही विभिन्न आकारवाले अनेक शरीर, प्रासाद आदि और रथ आदिका निर्माण करते हुए उपलब्ध होते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणोंसे यह प्रमाणित होता है। और मकड़ी अपने आप ही तन्तु उत्पन्न करती है, बगुली शुक्र–वीर्यके बिना ही गर्भधारण करती है, पद्मिनी भी किसी गमन-साधनकी अपेक्षाके बिना एक तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है, इस प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना अपने आप ही जगत्‌की सृष्टि करेगा। वह यदि ऐसा कहे कि ब्रह्मके जो देवता आदि दृष्टान्तरूपसे उप-

---

रत्नप्रभा

लोको मन्त्रार्थवादादिशास्त्रं वृद्धव्यवहारश्च। अभिध्यानम्—संकल्पः। ननु देवाद्यूर्णनाभान्तदृष्टान्तेषु शरीरेषु चेतनत्वं नास्ति, बलाकापद्मिनीचेतनयोः गर्भप्रस्थानकर्तृत्वे मेघशब्दः शरीरं च सहायोऽस्ति, अतो विशिष्टहेतोः न व्यभिचार इति शङ्कते—स यदि ब्रूयादित्यादिना। व्यभिचारोऽस्ति इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"देवादिवत्" इत्यादिसे। अर्थ जिससे ज्ञात होता है, वह लोक अर्थात् मंत्र, अर्थवाद आदि शास्त्र और वृद्धोंका व्यवहार, अभिध्यान-संकल्प। परन्तु देवता आदिसे लेकर ऊर्णनाभ तक दृष्टान्तोंमें शरीरोंमें चैतन्य नहीं है, बलाका और पद्मिनी यद्यपि चेतन हैं, तो भी बलाकाके गर्भधारणमें मेघका शब्द सहायक है, पद्मिनीके गमनमें शरीर सहायक है, इसलिए उक्त हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"स यदि ब्रूयात्" इत्यादिसे। व्यभिचार

भाष्य

उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादने उपादानं न तु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति। बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात् सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षम्, न तु स्वयमेवाऽचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते, तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयान्नायं दोषः, कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षित-

भाष्यका अनुवाद

स्थित किये गये हैं उनकी दार्ष्टान्तिक ब्रह्मके साथ समता नहीं है, क्योंकि देवता आदि का अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न करनेमें उपादान होता है, चेतन आत्मा उपादान नहीं है, मकड़ा छुद्रतर जन्तुओंका भक्षण करता है, इससे उसकी राल कठिन होकर तन्तु बन जाती है। बगुली मेघगर्जन सुनकर गर्भ धारण करती है। पद्मिनी भी जैसे बेल एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जाती है वैसे ही चेतनसे प्रयुक्त होकर अचेतन शरीरसे ही एक तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है। परन्तु स्वयं अचेतन ही अन्य तालाबमें जानेका व्यापार नहीं करती, इसलिए ये ब्रह्मके दृष्टान्त नहीं हैं, ऐसा जो कहे, उसके प्रति कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुलाल आदि दृष्टान्तोंका वैलक्षण्यमात्र विवक्षित है।

रत्नप्रभा

तं प्रति ब्रूयादिति। अयं दोषः दृष्टान्तवैषम्याख्यः। अत्र हि हेतौ चेतनत्वम् अहंधीविषयत्वरूपं चित्तादात्म्यापन्नदेहसाधारणं ग्राह्यम्, न तु मुख्यात्मत्वम्, तव कुलालदृष्टान्ते साधनवैकल्यापत्तेः। असहायत्वं च चेतनस्य स्वातिरिक्तहेतुशून्यत्वम्, तदुभयं देवादिषु अस्तीति व्यभिचारः, देहस्य स्वान्तःपातित्वेन स्वातिरिक्तत्वाभावात्। तथा च कुलालवैलक्षण्यं देवादीनाम्, घटादिकार्ये स्वातिरिक्तान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखलाते हुए उक्त आशंकाका परिहार करते हैं—"तं प्रति ब्रूयात्" इत्यादिसे। यह दोष—दृष्टान्तविषमतारूप दोष। उक्त हेतुमें चेतनत्व मुख्य आत्मत्व नहीं है, किन्तु 'अहं' इस बुद्धिके विषयतारूप चित्के तादात्म्यको प्राप्त देहमें भी रहनेवाला चेतनत्व है, अन्यथा पूर्वपक्षीसे कथित कुलालरूप दृष्टान्तमें भी हेतु नहीं रहेगा। चेतनका असहायत्व अपनेसे भिन्न साधनशून्यत्व है, इस प्रकार चेतनत्व और असहायत्व, दोनों देवता आदिमें हैं, इसलिए व्यभिचार है, क्योंकि देह भी स्वपदार्थके अन्तर्गत होनेसे स्वातिरिक्त नहीं है। इस प्रकार देवता आदि

भाष्य

त्वादिति । यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद् वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्ष्यामः । तस्माद् यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे कुलाल आदि और देवता आदिमें चेतनत्व समान है, तो भी कुलाल आदि कार्य आरम्भ करनेमें बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं, देवता आदि नहीं रखते, वैसे ही ब्रह्म चेतन है, तो भी बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रक्खेगा, इतना ही हम देवता आदि उदाहरणोंसे कहना चाहते हैं। इसलिए जैसे एककी सामर्थ्य देखी गई है, वैसी ही सबकी सामर्थ्य हो, ऐसा नियम नहीं है, यह अभिप्राय है ॥२५॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वाद्, देववैलक्षण्यं ब्रह्मणः देहस्याऽपि अनपेक्षणात्, नरदेवादीनां कार्यारम्भे नास्ति एकरूपा सामग्री । श्रूयते हि महाभारते श्रीकृष्णस्य संकल्पमात्रेण द्रौपद्याः पटपरम्परोपत्तिः । अतः सिद्धम् असहायस्याऽपि ब्रह्मणः कारणत्वम् ॥२५॥ (८)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुम्हारसे विलक्षण है, क्योंकि उनके घट आदि कार्यमें अपनेसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं है, और ब्रह्म देवताओंसे भी विलक्षण है, क्योंकि उसको देहकी भी अपेक्षा नहीं है, इसलिए मनुष्य, देवता आदिके कार्यमें सामग्री एकरूप नहीं होती है। महाभारतमें सुना जाता है कि श्रीकृष्ण भगवान्‌के संकल्पमात्रसे द्रौपदीकी वस्त्रपरम्परा उत्पन्न हो गई थी। इससे सिद्ध हुआ कि असहाय भी ब्रह्म जगत्‌का कारण है ॥२५॥



[९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण सू० २६—२९]

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते ।
कार्त्स्न्याद् ब्रह्मानित्यतासेरंशात्सावयवं भवेत् ॥१॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कार्त्स्न्यान्नापि भागतः ।
युक्तोऽनवयवस्याऽपि परिणामोऽत्र मायिकः ॥२॥*

सन्देह—ब्रह्मका परिणाम होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—यदि ब्रह्मका सम्पूर्णरूपसे परिणाम हो, तो ब्रह्म अनित्य हो जायगा, और यदि अंशतः परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम नहीं होता है ।

सिद्धान्त—ब्रह्मकी मायासे बहुरूपता होती है, सम्पूर्णरूपसे एवं अंशतः नहीं होती । मायासे निरवयव ब्रह्मका भी परिणाम युक्त ही है ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

पदच्छेद—कृत्स्नप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपः, वा ।

पदार्थोक्ति—कृत्स्नप्रसक्तिः—निरवयवब्रह्मपरिणामे कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्याकारेण परिणामप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपो वा—एकांशपरिणामे 'निष्कलम्' इत्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपः [उभयथापि अनित्यत्वापत्त्या ब्रह्म नोपादानं भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—यदि निरवयव ब्रह्मका परिणाम हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम प्रसक्त होगा, और यदि एक अंशसे परिणाम हो, तो ब्रह्मके सावयव होनेसे 'निष्कलम्' इत्यादि ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंका विरोध होगा, दोनों प्रकारसे ब्रह्म अनित्य हो जायगा, इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि आरम्भणाधिकरणमें कार्य और कारणका अभेद प्रतिपादित है । इससे मालूम होता है वैशेषिक आदिके समान ब्रह्मवादी आरम्भवादको नहीं मानते हैं, किन्तु क्षीरदध्यिन्यायसे परिणामवादको मानते हैं ब्रह्मका यदि संपूर्णरूपसे परिणाम हो जाय, तो वह क्षीर आदिके समान अनित्य हो जायगा । और यदि एकदेशसे परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम होना युक्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (परमेश्वर मायाशक्तियोंसे अनेक रूपवाला होता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि मायाशक्तिसे अनायास ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होता है । इस परिणामके वास्तविक न होनेसे संपूर्णरूपसे परिणत होता है या एकदेशसे इत्यादि विकल्पका अवसर ही नहीं है । इसलिए ब्रह्मका एतादृश परिणाम युक्त है ।

भाष्य

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद् देवादिवच्चाऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्। शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति—कृत्स्नप्रसक्तिः, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात्। यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत् सावयवमभविष्यत् ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चाऽवास्थास्यत्, निरवयवं तु ब्रह्म श्रुति-

भाष्यका अनुवाद

चेतन एक अद्वितीय ब्रह्म दूध आदिके और देवता आदिके समान बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किये बिना ही स्वयं परिणत होता हुआ जगत्का कारण है, ऐसा निष्कर्ष है। परन्तु शास्त्रार्थके स्पष्टीकरणके लिये फिर आक्षेप करते हैं। कृत्स्नप्रसक्ति अर्थात् यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो समस्त ब्रह्म कार्यरूप में परिणत होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि वह निरवयव है। पृथिवी आदिके समान यदि ब्रह्म सावयव होता, तो उसके एक देशका परिणाम होता और एक देश ज्योंका त्यों बना रहता। परन्तु ब्रह्म तो निरवयव है, ऐसा श्रुतियोंसे प्रतीत

रत्नप्रभा

कृत्स्नप्रसक्तिरिति। क्षीरदृष्टान्तेन ब्रह्म परिणामि इति भ्रमोत्पत्त्या पूर्वपक्षे प्राप्ते शास्त्रार्थो विवर्तः, न परिणाम इति निर्णयार्थम् इदम् अधिकरणमिति पूर्वाधिकरणेन उत्तराधिकरणस्य कार्यत्वं सङ्गतिमाह—चेतनमिति। निरवयवाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स किं यत् निरवयवं तन्न परिणामीति न्यायेन विरुध्यते न वेति? सन्देहे विरुध्यते इति पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—कृत्स्नेति। ब्रह्म परिणामीति वदता वक्तव्यं ब्रह्म निरवयवं सावयवं वा? आद्ये सर्वस्य ब्रह्मणः परिणामात्मना स्थितिः स्यादित्युक्तं व्यतिरेकदृष्टान्तेन विवृणोति—यदि

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कृत्स्नप्रसक्तिः" इत्यादि। दूधके दृष्टान्तसे ब्रह्म परिणामी है, इस प्रकार भ्रमकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वपक्षप्राप्ति होनेपर वेदान्तसिद्धान्त विवर्तवाद है परिणामवाद नहीं है, ऐसा निर्णय करनेके लिए यह अधिकरण है। इस प्रकार पूर्वाधिकरणके साथ इस अधिकरणकी कार्यत्वरूप संगति कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। निरवयव ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है, उक्त समन्वयका जो निरवयव है, वह परिणामी नहीं है, इस न्यायसे विरोध होता है या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर विरोधप्रतिपादक पूर्वपक्ष सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"कृत्स्न" इत्यादिसे। ब्रह्मको परिणामी कहनेवालेको कहना चाहिए कि ब्रह्म निरवयव है अथवा सावयव है? यदि निरवयव, हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मकी परिणामरूपसे स्थिति होगी, ऐसा जो कहा है, उसका व्यतिरेक दृष्टान्तसे

भाष्य

भ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः। ततश्चैकदेशपरिणामासम्भवात् कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत। द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चाऽऽपद्येत, अयत्नदृष्टत्वात् कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसम्भवात्,

भाष्यका अनुवाद

होता है—'निष्कलं निष्क्रियं०' (ब्रह्म अवयवरहित, क्रियाशून्य शान्त दोषरहित निरञ्जन है) दिव्यो ह्यमूर्त्त पुरुषः०' (यह अक्षरपुरुष दिव्य है, मूर्तिरहित है, बाह्य और आभ्यन्तरमें वर्तमान और जन्मरहित है) 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं० (यह महान् है, परिनिष्पन्न है, अनन्त है, अपार है, विज्ञानघन ही है) 'स एष नेति०' (जो नहीं नहीं इस प्रकार निषेध द्वारा निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) 'अस्थूलमनणु०' (जो न स्थूल है, न अणु है) इत्यादि श्रुतियां सब उपाधियोंका निषेध करती हैं। इसलिए एक देशके परिणामका असम्भव होनेसे समस्त ब्रह्मके परिणामकी प्राप्ति होनेपर मूलका ही उच्छेद हो जायगा और ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए, यह उपदेश ही निरर्थक हो जायगा, क्योंकि कार्य तो बिना प्रयत्नके दिखाई देता है और कार्यसे अतिरिक्त ब्रह्मका सम्भव

रत्नप्रभा

ब्रह्मेत्यादिना। पर्यणंस्यत्—परिणतोऽभविष्यत्, एकदेशश्च अवास्थास्यद्—अपरिणतोऽभविष्यत्। उक्तश्रुतिभ्यो निरवयवत्वसिद्धेः फलितं दोषमाह—ततश्चेति। यदा परिणामव्यतिरेकेण मूलब्रह्मात्मा नाऽस्ति तदाऽऽत्मा द्रष्टव्य इत्युपदेशोऽर्थशून्यः स्यादिति दोषान्तरमाह—द्रष्टव्यतेति। ब्रह्मणः परिणामात्मना जन्मनाशाङ्गीकारे "अजोऽमरः" (बृ०४।४।२५) इति श्रुतिविरोधः

रत्नप्रभाका अनुवाद

विवरण करते हैं—"यदि ब्रह्म" इत्यादिसे। पर्यणंस्यत्—परिणत होता, एकदेशश्चाऽवास्थास्यत्—एकदेश परिणत न होता। उक्त श्रुतियोंसे निरवयवत्वकी सिद्धि होनेपर फलित दोष कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। जब परिणामके अतिरिक्त मूल ब्रह्म नहीं है, तब 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) यह उपदेश अनर्थक हो जायगा, इस प्रकार अन्य दोष कहते हैं—"द्रष्टव्य" इत्यादिसे। परिणामरूपसे ब्रह्मका जन्म और

भाष्य

अजत्वादिशब्दव्याकोपश्च । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माऽभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चाऽनित्यत्वप्रसङ्ग इति सर्वथाऽयं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं है । उसी प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मके लिए जो अज आदि शब्दोंका प्रयोग है वह बाधित हो जायगा । यदि इस दोषका परिहार करनेकी इच्छासे ब्रह्मको सावयव ही मानें, तो एक तो ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली पूर्वोद्धृत श्रुतियोंका बाध हो जायगा । दूसरे, सावयवत्व माननेसे ब्रह्ममें अनित्यता प्राप्त हो जायगी । इसलिए यह पक्ष किसी प्रकार भी नहीं घट सकता, पूर्वपक्षी इस प्रकार आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

च इत्याह—अजत्वादीति । सावयवत्वपक्षम् आशङ्क्य सूत्रशेषेण परिहृति—अथेत्यादिना ॥२६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश अंगीकार करनेसे 'अजोऽमरः' (जन्मरहित है, मरणरहित है) इस श्रुतिसे विरोध भी होगा, ऐसा कहते हैं—"अजत्वादि" इत्यादिसे । सावयवत्वकी आशंका कर सूत्रशेषसे परिहार करते हैं—"अथ" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—श्रुतेः, तु, शब्दमूलत्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुः–पूर्वपक्षनिरासार्थः, श्रुतेः–ब्रह्मणो जगदुपादानत्वश्रवणात् 'तावानस्य महिमा' इत्यादौ कार्यव्यतिरेकेण सत्ताश्रवणात् [न कृत्स्नप्रसक्तिः] । शब्दमूलत्वात्–ब्रह्मणः शब्दैकप्रमाणत्वात् [न युक्त्या श्रुतेर्बाधः सम्भवति, अतो यथाश्रुति ब्रह्मणः कार्योपादानत्वं तद्व्यतिरेकेण सत्त्वं चाऽविरुद्धम्] ।

भाषार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षके निरासके लिए है । श्रुतिमें ब्रह्म जगत्का उपादानकारण कहा गया है । 'तावानस्य महिमा' (उतनी उसकी महिमा है) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मकी कार्यसे पृथक् सत्ता कही गई है, अतः ब्रह्मकी सर्वात्मना कार्यरूपमें परिणति नहीं हो सकती । पूर्वोक्त युक्तिसे श्रुतिका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म श्रुतिमूलकही है अतः श्रुतिके अनुसार ब्रह्मका जगदुपादान होना और जगत्से पृथक् रहना अविरुद्ध है ।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत् कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतः ? श्रुतेः । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणाऽपि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति,

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

भाष्यका अनुवाद

तु शब्दसे सूत्रकार आक्षेपका परिहार करते हैं । वास्तवमें हमारे पक्षमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि हमारे पक्षमें सम्पूर्ण ब्रह्मकी कार्यरूपमें परिणत होने की नौबत नहीं आती । किससे ? श्रुतिसे । जिस प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है, उसी प्रकार विकारसे भिन्नरूपसे ब्रह्मकी अवस्थिति श्रुतिमें कही गई है, क्योंकि प्रकृति और विकारका भेदसे व्यपदेश किया है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमा०' (उस देवताने विचार किया कि मैं इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नाकरूपका स्पष्टीकरण करूँ) और 'तावानस्य महिमा ततो०' (इस गायत्री संज्ञक ब्रह्मकी इतनी महिमा है, पुरुष इससे भी महान् है, सम्पूर्ण प्राणी इसका एक पाद और उसके निर्विकार तीन पाद स्वप्रका-

रत्नप्रभा

परिणामपक्षो दुघट इति यदुक्तम्, तत् अस्मदिष्टम् एव इति विवर्तवादेन सिद्धान्तयति—श्रुतेरिति । स्वपक्षे पूर्वोक्तदोषद्वयं नास्तीति सूत्रयोजनया दर्शयति—तुशब्देनेत्यादिना । ईक्षितृत्वेन व्याकर्तृत्वेन च ईक्षणीयव्याकर्तव्यप्रपञ्चात् पृथगीश्वरसत्त्वश्रुतेर्न कृत्स्नप्रसक्तिरित्याह—सेयं देवतेति । न्यूनाधिकभावेनाऽपि पृथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिणाम पक्ष दुर्घट है ऐसा जो तुमने कहा है वह हमें इष्ट ही है इस अभिप्रायसे सूत्रकार विवर्तवादसे सिद्धान्त करते हैं—"श्रुतेः" इत्यादिसे । अपने पक्षमें पूर्वोक्त दोनों दोषोंमेंसे एक भी नहीं है इस बातको सूत्रकी योजना द्वारा दिखलाते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । द्रष्टा और व्याकर्ताके रूपसे ईश्वरकी ईक्षण और स्पष्टीकरणके योग्य प्रपञ्चसे पृथक् सत्ता श्रुतिमें कही गई है, अतएव ईश्वरका सर्वात्मना परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"सेयं देवता" इत्यादिसे । श्रुतिमें जगत् ब्रह्मका एक अंश कहा गया है इससे भी ब्रह्मकी

भाष्य

(छा० ३।१२।६) इति चैवंजातीयकात् । तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्सम्पत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्, तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद् ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः, तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म । न च निरवयवत्वशब्दव्याको-

भाष्यका अनुवाद

शस्वरूपमें स्थित हैं) इस प्रकारका व्यपदेश है । और हृदय ब्रह्मका स्थान कहा गया है और सत्के साथ ब्रह्मकी एकता कही गई है । यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूपमें परिणत हो जाय, तो 'सता सोम्य ! तदा०' (हे सोम्य ! तब जीव सता—परमात्माके साथ एकीभूत हो जाता है) इस प्रकार सुषुप्ति सम्बन्धी विशेषण अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि विकृत—विकारको प्राप्त ब्रह्म नित्य प्राप्त है और अविकृत ब्रह्म है ही नहीं जिसे वह प्राप्त करे। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म इन्द्रियका अविषय भी कहा गया है और विकार इन्द्रियगोचर हो सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि अविकृत ब्रह्म अवश्य है। ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली

रत्नप्रभा

क्सत्त्वं श्रुतमित्याह—तावानिति । इतश्च अस्ति अविकृतं ब्रह्मेत्याह—तथेति । "स वा एष आत्मा हृदि" (छा० ८।३।३) इति श्रुतेरस्ति दृश्यातिरिक्तं ब्रह्म । तदेति सुषुप्तिकालरूपविशेषणाच्चेत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—तथेन्द्रियेति । भूम्यादेर्विकारस्येन्द्रियगोचरत्वात् "न चक्षुषा गृह्यते" (मु० ३।१।८) इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधादवाङ्मनसगोचरत्वश्रुतेश्चाऽस्ति कूटस्थं ब्रह्मेत्यर्थः । कृत्स्नप्रसक्तिदोषो नास्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पृथक् सत्ता है, ऐसा कहते हैं—"तावान्" इत्यादिसे । ब्रह्म अविकारी है इसमें यह भी प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । 'स वा एष आत्मा हृदि' (वह आत्मा हृदयमें है ऐसी श्रुति है इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म दृश्य प्रपञ्चसे भिन्न है । 'तदा'—सुषुप्तिकालमें । सुषुप्तिकालरूप विशेषण होनेसे भी ब्रह्म प्रपञ्चसे भिन्न है । अविकृत ब्रह्मकी पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिए दूसरे हेतु उपस्थित करते हैं—"तथेन्द्रिय" इत्यादिसे । भूमि आदि विकार इन्द्रियगोचर हैं, किन्तु 'न चक्षुषा गृह्यते' (नेत्रसे ब्रह्मका दर्शन नहीं होता) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके इन्द्रियगोचरत्वका निषेध किया गया है और ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है ऐसी दूसरी श्रुति भी है, अतएव कूटस्थ—अविकारी ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है । इस प्रकार ब्रह्मका सर्वथा परिणाम होनेका दोष नहीं है ऐसा

भाष्य

पोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याऽप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्द-मूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकि-कानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिका बाध नहीं होता, क्योंकि श्रुतिप्रमाणसे ही निरवयवत्वका स्वीकार किया जाता है और श्रुतिमूलक ब्रह्ममें श्रुति ही प्रमाण है, इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं हैं, इसलिए श्रुतिके अनुसार उसका स्वीकार करना चाहिए। श्रुति समस्त ब्रह्मका कार्यरूपमें परिणाम और निरवयत्व दोनोंका प्रतिपादन करती है। लौकिक मणि, मंत्र, ओषधि आदिकी शक्तियां भी काल और निमित्तकी विलक्षणतासे परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंको करती हुई दिखाई देती हैं। वे शक्तियां भी उपदेश

रत्नप्रभा

इति उक्त्वा द्वितीयदोषोऽपि नास्तीत्याह—**न चेति**। ननु ब्रह्म कार्यात्मनाऽप्यस्ति, पृथगप्यस्ति चेत् सावयवत्वं दुर्वारम्, निरवयवस्यैकस्य द्विधा सत्त्वायोगात्, अतो यद् द्विधाभूतं तत्सावयवमिति तर्कविरुद्धं ब्रह्मणो निरवयवत्वमिति विवर्तम् अजानतः शङ्कां गूढाशय एव परिहरति—**शब्दमूलश्चेति**। यदा लौकिकानां प्रत्यक्षदृष्टानामपि शक्तिः अचिन्त्या तदा शब्दैकसमधिगम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम्। अतो ब्रह्मणो निरवयवत्वं द्विधाभावश्च इत्युभयं यथाशब्दम् अभ्युप-न्तव्यम्, न तर्केण बाधनीयमित्यर्थः, प्रकृतिभ्यः प्रत्यक्षदृष्टवस्तुस्वभावेभ्यो यत्परं विलक्षणं केवलोपदेशगम्यं तदचिन्त्यस्वरूपमिति स्मृत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहकर अन्य दोष भी नहीं हैं ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि ब्रह्म कार्यरूपसे भी है और पृथक् भी है ऐसा यदि कहो तो उसमें सावयत्व दोषका निराकरण करना कठिन हो जायगा, क्योंकि निरवयव एक पदार्थ दो रूपसे रहे यह संभव नहीं है। जो दो रूपसे रहता है वह सावयव है इस युक्तिसे ब्रह्मको निरवयव कहना विरुद्ध है विवर्तवाद न जाननेवालेकी इस शङ्काका आचार्य गूढ़ अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"शब्दमूलं च" इत्यादिसे। जब प्रत्यक्ष दृष्ट लौकिक पदार्थोंकी भी शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं तब केवल श्रुति से जानने योग्य ब्रह्मकी शक्ति अचिन्त्य हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! इसलिये ब्रह्मका निरवयव होना और दो रूपसे रहना जैसा श्रुति कहती है वैसेही स्वीकार करना चाहिए। इस विषयमें तर्कसे बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए। प्रकृतिसे अर्थात्

भाष्य

तर्केणाऽवगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताऽचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना-शब्देन न निरूप्येत। तथा चाऽऽहुः पौराणिकाः—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति।

तस्मात् शब्दमूल एवाऽतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः। ननु शब्दे-नाऽपि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते न च कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चाऽवतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात् सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अति-

भाष्यका अनुवाद

के बिना केवल तर्कसे ज्ञात नहीं हो सकतीं कि इस वस्तुकी इतनी शक्तियाँ हैं, उनके ये सहायक हैं, उनका यह काम है और यह प्रयोजन है। तो जिसका प्रभाव अचिन्त्य है, उस ब्रह्मके रूपका श्रुतिके उपदेशके बिना निरूपण नहीं हो सके, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पौराणिक भी कहते हैं—'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्ककी कसौटीमें नहीं कसना चाहिए, जो प्रकृतिसे पर है, वही अचिन्त्य है) इत्यादि। इसलिए अतीन्द्रिय अर्थके यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति श्रुतिमूलक ही है। परन्तु निरवय ब्रह्मका परिणाम होता है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्म परिणत नहीं होता ऐसे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति श्रुति भी नहीं करा सकती। यदि ब्रह्म निरवयव है तो उसका परिणाम ही नहीं होगा, होगा तो सम्पूर्णका होगा। यदि कुछ रूपसे ब्रह्मका परिणाम होता है और कुछसे वह अवस्थित रहता है यह माना जाय, तो रूपभेदकी कल्पनासे ब्रह्म सावयव सिद्ध हो जायगा। क्रियाके सम्बन्ध

रत्नप्रभा

आशयानवबोधेन शङ्कते—ननु शब्देनाऽपीति। यद्वा, ब्रह्म परिणामि इत्येकदेशिनामियं सिद्धान्तसूत्रव्याख्या दर्शिता, तामाक्षिपति—नन्विति। शब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुस्वभावमे जो पर अर्थात् विलक्षण है अर्थात् केवल उपदेशगम्य है, वह अचिन्त्य स्वरूप है यह श्रुतिका अर्थ है। आशयको ठीक-ठीक न समझकर पूर्वपक्षी शंका करता है—"ननु शब्देनापि" इत्यादिसे। अथवा सिद्धान्तसूत्रकी एकदेशीकी 'ब्रह्म परिणामी है' ऐसी व्याख्या दिखलाकर उसपर आक्षेप करता है—"ननु" इत्यादिसे। योग्यताके ज्ञानकी शब्दको अपेक्षा होनेसे,

भाष्य

रात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकरणं भवति, पुरुषतन्त्रत्वाच्चाऽनुष्ठानस्य । इह तु विकल्पाश्रयणेनाऽपि न विरोधपरिहारः संभवति, अपुरुषतन्त्रत्वाद् वस्तुनः । तस्माद् दुर्घटमेतदिति ।

नैष दोषः अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात् । नह्यविद्याकल्पितेन

भाष्यका अनुवाद

में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति०' (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करता है), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण नहीं करता) इस प्रकारकी विरोधप्रतीतिमें भी विकल्पका आश्रयण विरोधके परिहारके लिए किया जाता है, क्योंकि अनुष्ठान पुरुषके अधीन है । यहां तो विकल्पके आश्रयसे भी विरोधका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है । इसलिये यह दुर्घट है ।

नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि अविद्याकल्पित रूपभेदका स्वीकार किया

रत्नप्रभा

योग्यताज्ञानसापेक्षत्वादित्यर्थः । ननु ब्रह्म सावयवं निरवयवं वेति विकल्पाश्रयणे सर्वश्रुतिसमाधानं स्यादित्यत आह—क्रियेति ।

निरवयवत्वे ब्रह्मणः प्रकृतित्वश्रुतिविरोधः, सावयवत्वे निरवयवत्वशब्दविरोधः, विकल्पश्च वस्तुन्ययुक्तः, अतः प्रकारान्तरानुपलम्भात् श्रुतीनां प्रामाण्यं दुर्घटमिति प्राप्ते स्वाशयम् उद्घाटयति—नैष दोष इति । निरवयवस्य वस्तुनः कूटस्थस्याऽपि अविद्यया कल्पितनामरूपविकाराङ्गीकाराद् दुर्घटत्वदोषो नास्ति, वास्तवकौटस्थ्यस्य कल्पितविकारप्रकृतित्वेनाऽविरोधादित्यर्थः । रूपभेदाङ्गीकारे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । परन्तु ब्रह्म सावयव है या निरवयव है ? ऐसे विकल्पका आश्रय करनेसे सब श्रुतियोंका समाधान होगा, इसपर कहते हैं-"क्रिया" इत्यादिसे ।

ब्रह्मको निरवयव माननेमें ब्रह्मको प्रकृति कहनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, सावयव माननेमें निरवयत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, वस्तुमें विकल्प अयुक्त है और प्रकारान्तर उपलब्ध नहीं होता, इससे श्रुतिका प्रामाण्य दुर्घट है, ऐसा प्राप्त होनेपर अपने आशयका उद्घाटन करते हैं-"नैष दोषः" इत्यादिसे । निरवयव कूटस्थ वस्तुके भी अविद्यासे कल्पित नाम-रूप विकारका अंगीकार है, अतः दुर्घटत्व दोष नहीं है । अर्थात् वास्तवमें जो कूटस्थ है, उसके कल्पित विकारकी प्रकृति होनेमें कोई

भाष्य

रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनाऽनेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाऽविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स

भाष्यका अनुवाद

है। अविद्याकल्पित रूप भेदसे वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोगसे जिसके नेत्रका प्रकाश नष्ट हो गया है, उसकी दृष्टिमें चन्द्रमाके अनेकसे दिखाई देने पर भी वास्तवमें चन्द्रमा अनेक नहीं ही होता। और अविद्यासे कल्पित नामरूप लक्षण व्याकृत और अव्याकृत स्वरूप और तत्त्व या अतत्त्वसे अनिर्वचनीय रूपभेद द्वारा ब्रह्म परिणामादि सब व्यवहारोंका स्थान होता है, परन्तु पारमार्थिक रूपसे ब्रह्म सब व्यवहारोंसे अतीत और परिणामशून्य अवस्थित है। और अविद्याकल्पित नामरूपभेद केवल वाचारम्भण मात्र है, अतः ब्रह्ममें निरवयवत्व बाधित नहीं होता। और इस परिणाम श्रुतिका प्रयोजन परिणामका प्रतिपादन करना नहीं है, क्योंकि परिणामका ज्ञान होनेसे फलकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु सब व्यवहारोंसे रहित ब्रह्मात्मत्वका प्रतिपादन करना ही उक्त श्रुतिका प्रयोजन है, उसके ज्ञानमें

रत्नप्रभा

सावयवत्वं स्यादित्याशङ्क्य उक्तं विवृणोति—नहीत्यादिना। कृत्स्नप्रसक्तिं निरस्य दोषान्तरं निरस्यति—वाचारम्भणेति। ननु श्रुतिप्रतिपाद्यस्य परिणामस्य कथं मिथ्यात्मत्वं तत्राऽऽह—न चेयमिति। निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन सृष्टिरनूद्यते, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध नहीं है। स्वरूपभेदका अंगीकार करनेसे ब्रह्म सावयव है ऐसा मानना होगा ऐसी आशङ्का कर पूर्वोक्तका स्पष्टीकरण करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ब्रह्मका सम्पूर्ण रूपसे परिणाम होता है इसका निराकरण करके अन्य दोषका खण्डन करते हैं—"वाचारम्भण" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि श्रुतिप्रतिपादित परिणाम मिथ्या किस प्रकार है? उसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे। निष्प्रपञ्च ब्रह्मप्रतीतिके अङ्गरूपसे सृष्टिका अनुवाद किया जाता है, सृष्टिका

भाष्य

एष नति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याऽऽह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

फलप्राप्ति है, क्योंकि 'स एष नेति नेत्यात्मा' (जो श्रुतिमें नहीं नहीं, इस प्रकार निषेधमुखसे निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम करके कहते हैं—'अभयं वै जनक०' (हे जनक ! तुम निश्चय, भयरहित—ब्रह्मको प्राप्त हो) इत्यादि। इसलिए हमारे मतमें कुछ भी दोष नहीं है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

प्रतिपाद्यते इति असकृदावेदितम् । अतो विवर्तवादे न कश्चिद् दोष इति उपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिपादन नहीं किया जाता, ऐसा अनेक बार कहा जा चुका है। इसलिए विवर्तवादमें कोई दोष नहीं है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

पदच्छेद—आत्मनि, च, एवम्, विचित्राः, च, हि ।

पदार्थोक्ति—हि—यस्मात् 'न तत्र रथा न योगाः, इत्यादौ आत्मनि—स्वप्नदृशि एकस्मिन् आत्मनि, विचित्राः—विविधाः सृष्टयः [श्रूयन्ते] । च—लोके मायाविनि स्वरूपानुपमर्देनैव हस्त्यश्वादिविचित्राः सृष्टयो दृश्यन्ते, एवम्—एकस्मिन् ब्रह्मणि अपि [विविधसृष्टिः भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—चूँकि 'न तत्र रथा न रथयोगाः' (स्वप्नमें न रथ हैं न घोड़े हैं) इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नद्रष्टा एक आत्मामें अनेक प्रकारकी सृष्टियाँ कही गई हैं और लोकमें एक ऐन्द्रजालिकमें उसके स्वरूपके नाश हुए बिना हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टि दिखाई देती है, उसी प्रकार एक ब्रह्ममें विविध सृष्टियाँ हो सकती हैं।

भाष्य

अपि च नैवाऽत्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः स्यादिति, यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु च मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और अपने रूपका नाश हुए बिना एक ही ब्रह्ममें अनेक प्रकारवाली सृष्टि किस प्रकार हो सकती है, इस विषयमें इस प्रकार विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एक स्वप्न द्रष्टा आत्मामें भी स्वरूपका नाश हुए बिना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि श्रुतिमें कही गई है—'न तत्र रथा न रथयोगा०' (स्वप्नमें रथ नहीं हैं, घोड़े नहीं हैं, मार्ग नहीं हैं, किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथोंका, घोड़ों और उनके मार्गोंका निर्माण करता है) इत्यादिसे। लोकमें भी देवता आदिमें और मायावी आदिमें अपने स्वरूपके नाशके बिना ही हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टियाँ देखनेमें आती हैं। उसी प्रकार अखण्ड ब्रह्ममें भी स्वरूपका नाश हुए बिना ही विविध प्रकारकी सृष्टि होगी ॥ २८ ॥

रत्नप्रभा

पूर्वावस्थानाशेनाऽवस्थान्तरम्—परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिभावः। पूर्वरूपानुपमर्देन अवस्थान्तरम्—विवर्तः, यथा शुक्तेः रजतभावः। तत्र ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वं स्वप्नसाक्षिदृष्टान्तेन द्रढयन् मायावादं स्फुटयति सूत्रकारः—**आत्मनि चेति**। रथयोगाः—अश्वाः ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अवस्थाके नाशसे अन्य अवस्थाकी प्राप्ति परिणाम है जैसे दूधका दहीके रूपमें परिणत होना। पूर्व अवस्थाके नाश हुए बिना अन्य अवस्थाकी प्राप्ति विवर्त है जैसे सीप चाँदीके रूपमें दिखाई देती है। यहाँपर स्वप्नसाक्षीके दृष्टान्तसे ब्रह्मको विवर्तका उपादान सिद्धकर सूत्रकार मायावादको स्फुट करते हैं—"आत्मनि" इत्यादिसे। रथयोग—घोड़े ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, स्वपक्षदोषात्–सांख्यादीनां पक्षेऽप्यस्य दोषस्य सत्त्वात् [एकस्मिन्नेव पक्षे नोपक्षेप्तव्यो भवति । तस्मादुपपन्नो ब्रह्मकारणतावादः] ।

भाषार्थ—और सांख्य आदिके पक्षमें भी यह दोष है, इसलिए हमारे ही पक्षमें यह दोष लगाना उचित नहीं है । इसलिए ब्रह्मकारणतावाद उपपन्न है ।

भाष्य

परेषामप्येषः समानः स्वपक्षे दोषः, प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः । तत्राऽपि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात् प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा । ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

दूसरे वादियोंके पक्षमें भी यह दोष समान है, क्योंकि प्रधानवादीका भी अपना पक्ष यह है कि निरवयव, अपरिच्छिन्न शब्द आदिरहित प्रधान सावयव, परिच्छिन्न और शब्द आदियुक्त कार्यका कारण है । उसके मतमें भी प्रधानके निरवयव होनेसे सम्पूर्ण प्रधानकी कार्यरूपमें परिणति होती है अथवा प्रधान की निरवयवताके स्वीकारका बाध होता है । परन्तु वे प्रधानको निरवयव नहीं

रत्नप्रभा

किञ्च, कृत्स्नप्रसक्त्यादीनां सांख्यादिपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्मान् प्रत्युद्भावनीयत्वम्, 'यश्चोभयोः समो दोषः, इति न्यायादित्याह सूत्रकारः—**स्वपक्षेति** । प्रधानस्य निरवयवत्वे कृत्स्नप्रसक्तिः, सावयवत्वे च निरवयवत्वाभ्युपगमविरोध इति अत्र शङ्कते—**नन्विति** । किं साम्यावस्था गुणानां विकारः समुदायो वा ?

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सम्पूर्णरूपसे परिणाम होना आदि सांख्य आदिके मतमें भी दोष हैं, इसलिए हमारे पक्षमें ही उनका उद्घाटन करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'यश्चोभयोः०' (जो दोष दोनों मतमें समान हैं, और उनका परिहार भी समान ही है । उसके विषयमें केवल एक पक्षवालेसे पूछना उचित नहीं है) यह न्याय है ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे । प्रधानको निरवयव मानो तो उसका सर्वथा परिणाम हो जायगा, यदि सावयव मानो तो उसको जो निरवयव माना है वह बाधित होगा—यहांपर यह शङ्का करते हैं—"ननु"

भाष्य

गम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि हि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानम्, तैरेवाऽवयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते, यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्, एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात् स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात् सावयवत्वमेवेति चेत्। एव-

भाष्यका अनुवाद

मानते, सत्त्व, रज और तम—तीन नित्य गुण हैं, उनकी साम्यावस्था ही प्रधान है, उन्हीं गुणरूप अवयवोंसे वह सावयव है, ऐसा स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके सावयवत्वसे प्रकृत दोषका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्त्व, रज और तममें भी प्रत्येकका निरवयवत्व समान है। एक गुण ही शेष दो गुणोंसे युक्त होकर सजातीय प्रपञ्चका उपादान है, इस प्रकार स्वपक्षमें उक्त दोषकी प्राप्ति समान है। उक्त तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे

रत्नप्रभा

आद्ये तस्या न मूलप्रकृतित्वम्, विकारत्वात्। द्वितीये प्रपञ्चाभावः, समुदायस्याऽवस्तुत्वेन मूलाभावात्। अथ निरवयवा गुणा एव विविधपरिणामानां प्रकृतिरिति चेत्, तर्हि कृत्स्नप्रसक्तेः मूलोच्छेदो दुर्वार इत्यभिप्रेत्य परिहरति—**नैवमित्यादिना**। इति—यतः, अतः समानत्वात् न वयं पर्यनुयोज्या इत्यन्वयः। प्रत्येकं सत्त्वादिकम् इतरगुणद्वयसचिवं निरवयवं यदि उपादानम्, तर्हि कृत्स्नस्य उपादानस्य कार्यरूपत्वप्रसक्तेर्मूलोच्छेद इत्युक्ते निरवयवत्वसाधकतर्कस्य आभासत्वाद् गुणानां सावयवत्वमेव परिणामित्वेन मृदादिवत्, अतो न कृत्स्नप्रसक्तिरेकदेशपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। साम्यावस्था गुणोंका विकार है अथवा समुदाय? प्रथम पक्ष यदि स्वीकार करो तो वह मूलप्रकृतिही नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह विकार है। दूसरा पक्ष ग्रहण करो तो प्रपञ्चका अभाव हो जायगा, क्योंकि समुदाय अवस्तुरूप होनेसे किसीका मूल नहीं हो सकता। निरवयव गुण ही विविध परिणामोंकी प्रकृति हैं ऐसा यदि कहा जाय तो सर्वथा परिणाम होनेसे मूलोच्छेद किसी प्रकार नहीं टल सकेगा इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। इसलिए समान दोष होनेसे हमसे ही प्रश्न नहीं करना चाहिए ऐसा अन्वय है। यदि प्रत्येक सत्त्व आदि अन्य दो गुणोंके साथ निरवयव होकर ही उपादान कारण हों तो समस्त उपादानका कार्यरूपमें परिणाम होनेके कारण मूलोच्छेद हो जायगा ऐसा कहा है, इसलिए निरवयत्वका साधक तर्क तर्काभास ही है अतएव गुण परिणाम होनेसे मिट्टी आदिके समान सावयव ही हैं। इसलिए कृत्स्नप्रसक्ति (सर्वथा परिणाम) नहीं होगी, क्योंकि

भाष्य

मप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः, तथाऽणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः। अथैकदेशेन संयुज्येत, तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप

भाष्यका अनुवाद

सावयवत्व ही है ऐसा कहो तो सावयवत्व होनेपर भी अनित्यता आदि दोषोंका प्रसङ्ग आवेगा। यदि कार्यवैचित्र्यसे ज्ञात होनेवाली शक्तियाँ ही अवयव हैं, ऐसा अभिप्राय हो, तो वही तो ब्रह्मवादी भी मानते हैं। इसी प्रकार अणुवादीके मतमें भी एक अणु दूसरे अणुसे संयुक्त होता हुआ निरवयव होनेसे यदि सम्पूर्णतया संयुक्त हो, तो प्रथिमा—अधिक परिमाणके अनुपपन्न होनेसे उसमें केवल अणुमात्र होनेका प्रसंग आवेगा और यदि एक

रत्नप्रभा

सम्भवादिति शङ्कते—**तर्केति**। एतद्दोषाभावेऽपि दोषान्तरं स्यादिति परिहरति—**एवमपीति**। ननु गुणानामवयवाः तन्तुवदारम्भका न भवन्ति, किन्तु कार्यवैचित्र्यानुमितास्तद्गताः शक्तय इत्याशङ्क्य मायिकशक्तिभिः ब्रह्मणोऽपि सावयवत्वं तुल्यमित्याह—**अथेत्यादिना**। अणुवादेऽपि दोषसाम्यमाह—**तथेति**। सांख्यवद् दोषः समान इति सम्बन्धः। निरवयवयोः परमाण्वोः संयोगो व्याप्यवृत्तिः अव्याप्यवृत्तिर्वा ? आद्ये तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्य एकपरमाणुमात्रत्वापत्तिः प्रथिम्नोऽधिकपरिमाणस्याऽनुपपत्तेः। नहि अणोः अण्वन्तरेण उपर्यधः पार्श्वतश्च व्याप्तौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक देशके परिणामका संभव है ऐसी शंका करते हैं—"तर्क" इत्यादिसे। इस दोषका अभाव होनेसे भी अन्य दोष होंगे इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि गुणोंके अवयव तन्तुओंके समान आरम्भक नहीं होते, किन्तु कार्यवैचित्र्यसे अनुमित उनमें रहनेवाली शक्तियाँ आरम्भिका होती हैं तो मायिक शक्तियों द्वारा ब्रह्म भी सावयव है ही ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। अणुवादमें भी इस दोषकी समानता दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे। सांख्यमतके समान अणुवादमें भी दोष समान है ऐसा सम्बन्ध है। निरवयव दो परमाणुओंका संयोग व्याप्यवृत्ति है या अव्याप्यवृत्ति है ? प्रथम पक्षमें परमाणुओंसे उत्पन्न द्व्यणुक एक परमाणुमात्र ही होगा प्रथिमा—अधिक परिमाण युक्त न होगा। एक अणुकी अन्य अणुके साथ नीचे, ऊपर और बगलसे व्याप्ति होनेसे इससे अधिक द्रव्य नहीं हो सकता। संयोग यदि अव्याप्यवृत्ति माना जाय तो परमाणुओंके

भाष्य

इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्षे उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः॥ २९॥

भाष्यका अनुवाद

देशसे संयोग पावे, तो भी निरवयत्वस्वीकार बाधित हो जायगा, इसलिए अपने पक्षमें भी वह दोष समान है, दोनोंके समान होनेपर दोमें से एक पक्षमें दोष लगाना युक्त नहीं है। ब्रह्मवादी तो अपने पक्षमें दोषका परिहार कर चुका है॥ २९॥

रत्नप्रभा

ततोऽधिकद्रव्यं सम्भवति। द्वितीये परमाण्वोः सावयवत्वापत्तिः इत्यर्थः। ननु 'त्वं चोरः' इत्युक्ते 'त्वमपि चोरः' इतिवद् दोषसाम्योक्तिः अयुक्ता इत्यत आह— **परिहृतस्त्विति**। उक्तं हि मायावादे स्वप्नवत् सर्वं सामञ्जस्यम्, अतो निरवयवे ब्रह्मणि समन्वयस्याऽविरोध इति सिद्धम्॥ २९॥ (९)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सावयव होनेकी नौबत आ जायगी यह तात्पर्य है। यदि कोई कहे 'तुम चोर हो' ऐसा किसीके कहनेपर 'तुम भी चोर हो' इस कथनके समान दोषकी समानताका उल्लेख करना अयुक्त है तो इसपर कहते हैं—"परिहृतस्तु" इत्यादिसे। मायावादमें स्वप्नके समान सब सामञ्जस्य कहा गया है इसलिए निरवयव ब्रह्ममें समन्वयका कोई विरोध नहीं है ऐसा तात्पर्य है॥ २९॥

[१० सर्वोपेताधिकरण सू० ३०—३१]

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते।
ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥१॥
बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।
ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—शरीररहित ब्रह्ममें माया है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें जितने मायावी—ऐन्द्रजालिक हैं, वे सब शरीरधारी ही हैं, अतः शरीररहित ब्रह्ममें माया नहीं हो सकती ।

सिद्धान्त—जैसे बाह्य साधनोंके बिना भी ऐन्द्रजालिक मायासे विविध पदार्थ बना लेते हैं, वैसे ही 'मायिनं तु महेश्वरम्' (पर ब्रह्म परमात्मा माया युक्त है) इस श्रुति प्रमाणसे शरीरके बिना भी ब्रह्ममें माया हो सकती है ।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—च-अपि, सर्वोपेता—सर्वशक्तियुक्ता परा देवता, [कुतः] तद्दर्शनात्—तस्य सर्वशक्तियोगस्य 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात् ।

भाषार्थ—और परा देवता सर्वशक्तियुक्त है, क्योंकि 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (वह सबका कर्ता है और उसमें सब कामनाएँ हैं) इत्यादि श्रुतिमें उसका सर्वशक्तियोग देखा गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जितने ऐन्द्रजालिक आदि हैं वे सब शरीरधारी हैं, अतएव शरीररहित ब्रह्ममें मायाका संभव नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि लोकमें यह देखा जाता है कि घर आदि बनानेवाले सभी लोगोंको अपनेसे अतिरिक्त मिट्टी, लकड़ी, घास-फूस आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है, तथापि ऐन्द्रजालिक जैसे उक्त साधनोंके बिना भी गृह आदिका निर्माण कर लेता है, वैसे ही लौकिक मायावीके शरीर की अपेक्षा रखनेपर भी ब्रह्ममें माया की सिद्धिके लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है । यदि कहो कि ऐन्द्रजालिकका बाह्य वस्तुओं की अपेक्षाके बिना वस्तुओंका निर्माण करना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो ब्रह्ममें भी शरीर की अपेक्षाके बिना मायासद्भावमें 'मायिनं तु महेश्वरम्' यह श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

एकस्याऽपि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्, तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति। तदुच्यते— सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म यद्यपि एक ही है, तथापि उसका विचित्र शक्तियोंके साथ योग होनेसे विचित्र विकार प्रपञ्च उपपन्न होता है, ऐसा कहा है। परन्तु परब्रह्म विचित्रशक्तियुक्त है, यह कैसे ज्ञात होता है? उसे कहते हैं—'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'। पर देवता सर्वशक्तियुक्त है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। किससे? उसके दर्शनसे। क्योंकि श्रुति पर देवताका सर्वशक्तियोग दिखलाती है—'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सम्पूर्ण विश्व जिसका कर्म है, जिसके सब मनोरथ दोषरहित हैं, सब गन्ध जिसके सुखकर हैं, जिसके सब रस सुखकर हैं, जो इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त-करके स्थित है, वाग्-इन्द्रियरहित और निष्काम है) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (सत्यकामनावाला, सत्यसङ्कल्पवाला) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने०' (हे गार्गि, इसी नाशरहित ब्रह्मकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्र धारण किये हुए रहते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं ॥३०॥

रत्नप्रभा

सर्वोपेता। मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य अशरीरस्य न मायेति न्यायेन विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे न्यायस्य अनाभासत्वादस्तीति पूर्वपक्षे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वसमर्थनाद् एकविषयत्वं सङ्गतिं वदन् सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे— एकस्येत्यादिना। पूर्वोत्तरपक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमित्युक्तमेवाऽऽपादसमाप्तेः अवगन्तव्यम्। अभ्यात्तः—अभितो व्याप्तः, अवाकी—वागिन्द्रियशून्यः, अनादरः—निष्कामः ॥३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वोपेता"। मायाशक्तियुक्त ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाले समन्वयका शरीररहितमें माया नहीं है, इस न्यायके साथ विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर न्याय आभासरूप न होनेसे विरुद्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर पूर्वोक्त शक्तिमत्त्वके समर्थनसे एकविषयत्वरूप पूर्व अधिकरणके साथ संगति कहते हुए सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"एकस्य" इत्यादिसे। अभ्यात्तः—चारों ओरसे व्याप्त हुआ। अवाकी—वागिन्द्रियरहित। अनादर—निष्काम ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—विकरणत्वात्, न, इति, चेत्, तत्, उक्तम्।

पदार्थोक्ति—विकरणत्वात्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादिना ब्रह्मणः करणराहित्यावगमात् न–न कर्तृत्वम्, इति चेत्, तदुक्तम्–अत्र यदुत्तरं वक्तव्यं तत् पूर्वमेव 'देवादिवदपि लोके' इत्यत्र उक्तम्।

भाषार्थ—'अचक्षुष्क०' (उसके नेत्र नहीं हैं कान नहीं हैं) इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके इन्द्रियरहित प्रतीत होनेसे ब्रह्म कर्ता नहीं है ऐसा यदि कहो तो इस विषयमें जो कहना था वह हम पीछे 'देवादिवदपि लोके' इस सूत्रमें कह चुके हैं।

भाष्य

स्यादेतत्, विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्–'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।९।८) इत्येवंजातीयकम्। कथं सा सर्वशक्तियुक्ताऽपि सती कार्याय प्रभवेत्, देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते, कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

ठीक है। परन्तु 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (वह नेत्ररहित, कर्णरहित, वाणीरहित और मनरहित है) इत्यादि श्रुतियाँ पर देवताको करणरहित कहती हैं। वह देवता यद्यपि सर्वशक्तिशाली है, तथापि कार्यके लिए किस प्रकार समर्थ होगा, क्योंकि देवता आदि चेतन, सर्वशक्तियुक्त हैं, तो भी आध्यात्मिक शरीर और इन्द्रियोंसे सम्पन्न होकर ही वे तत् तत् कार्य करनेकी शक्तिवाले देखे जाते हैं, तो 'नेति नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इस प्रकार श्रुतिने

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षन्यायमनूद्य दूषयति—**विकरणत्वादिति**। देवादिचेतनानां शक्तानामपि देहाभिमाने सत्येव कर्तृत्वं दृष्टम्, तदभावे सुषुप्तौ तन्न दृष्टम्, अतो ब्रह्मणः शक्तत्वेऽपि अदेहत्वाद् न कर्तृत्वम्, नाऽप्यदेहस्य शक्तिः सम्भवतीति शङ्कार्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षन्यायका अनुवाद करके उसको दूषित करते हैं—"विकरणत्वात्" इत्यादिसे। देवता आदि चेतन समर्थ हैं, तो देहाभिमान रहनेपर ही वे कुछ कार्य करते दिखाई देते हैं, उसका अभाव होनेसे सुषुप्तिमें तो वैसा करते नहीं दिखाई देते, इसलिए ब्रह्मके समर्थ

भाष्य

यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्, न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्याऽपि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया है, उस देवतामें सर्वशक्तिका योग किस प्रकार हो सकता है ? ऐसा यदि कहो,

तो इस विषयमें जो हमें कहना था, उसे हम पहले ही कह चुके हैं। यह अति गम्भीर ब्रह्म श्रुतिसे ही जाना जा सकता है, तर्कोंसे वह ज्ञातव्य नहीं है। और एककी सामर्थ्य जैसी देखी गई हो, वैसी ही दूसरेकी सामर्थ्य होनी चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया गया है, उस ब्रह्ममें भी शक्तियोग सम्भव है, यह बात भी अविद्यासे कल्पित रूपभेदके उपन्याससे कही गई है। उसी प्रकार 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता०' (उसके हाथ नहीं, तो भी वह सर्वग्राही है, और पैर नहीं हैं, तो भी वह दूरगामी है, आँखें नहीं हैं, तो भी वह देखता है और कान नहीं हैं तो भी वह सुनता है) यह शास्त्र करणरहित—इन्द्रियरहित ब्रह्ममें भी सर्वसामर्थ्यका योग दिखलाता है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

विकरणस्य जीवस्य कर्तृत्वासम्भवेऽपीश्वरस्य सम्भवतीति "देवादिवदपि लोके" (ब्र० सू० २।१।२५) इत्यत्रोक्तम्, तत्र शरीरस्य कल्पितस्य मायाश्रयत्वायोगात् निर्विशेषचिन्मात्रस्यैव मायाधिष्ठानत्वं युक्तमिति समाधानार्थः ॥ ३१ ॥ (१०) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर भी देहरहित होनेसे वह कर्त्ता नहीं हो सकता। देहरहितमें सामर्थ्यका सम्भव भी नहीं है ऐसा शङ्काका अर्थ है। करणरहित जीवमें यद्यपि कर्तृत्व सम्भव नहीं है, तथापि 'देवादिवदपि लोके' इसमें ईश्वरके कर्तृत्वका सम्भव कहा गया है। उसमें शरीरकल्पित होनेसे मायाका आश्रय हो, यह युक्त नहीं है, अतः निर्विशेष चिन्मात्र ही मायाका अधिष्ठान है, यह युक्त है; ऐसा समाधानका अर्थ है ॥३१॥

[११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरण सू० ३२-३३]

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छने ।
अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥१॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः ।
अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात् तृप्तस्तथा सृजेत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—नित्यतृप्त ब्रह्म स्रष्टा है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म स्रष्टा नहीं है, क्योंकि फलकी इच्छा होनेपर उसमें अतृप्ति हो जायगी, और यदि फलकी इच्छा न हो तो उसमें उन्मत्त नरतुल्यता हो जायगी ।

सिद्धान्त—जैसे लीला, श्वासप्रश्वास आदि निरर्थक चेष्टाएँ फलके उद्देश्यके बिना विवेकी लोगोंसे भी की जाती हैं, उसी प्रकार नित्यतृप्त ब्रह्म भी किसी फलकी इच्छाके बिना जगत्की सृष्टि करता है ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—न, प्रयोजनवत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—न—न ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं संभवति नित्यतृप्तत्वेन प्रयोजनवत्त्वात्—प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वाभ्युपगमात् [ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विरुद्ध्यते]।

भाषार्थ—ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वका संभव नहीं है, क्योंकि नित्यतृप्त होनेसे उसे किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है विवेकी जनोंकी प्रवृत्ति प्रयोजनवती मानी गई है, अतः ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला समन्वय विरुद्ध है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्दस्वरूप है) इत्यादि श्रुति और युक्तिसे प्रतीत होता है कि परमेश्वर नित्यतृप्त है। नित्यतृप्त ब्रह्ममें सृष्टिविषयिणी इच्छा यदि मानी जाय तो नित्यतृप्तिका व्याघात हो जायगा । यदि कोई इच्छा न मानी जाय तो अबुद्धिपूर्वक सृष्टि करते हुए ब्रह्मकी उन्मत्तपुरुषसमानता हो जायगी ।

सिद्धान्ती कहते हैं—जैसे विवेकशील राजा आदिकी भी प्रयोजनके बिना क्रीडासे शिकार खेलनेमें प्रवृत्ति देखी गई है, निरर्थक श्वास-प्रश्वास व्यवहार तो सब लोगोंमें देखा ही जाता है और व्यर्थ चेष्टाएँ भी बहुधा बालकोंसे की जाती हैं । इसी प्रकार नित्यतृप्त परमेश्वर भी किसी प्रयोजनके बिना ही विवेकपूर्वक सकल जगत्की सृष्टि करता है ।

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत् प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः, किमुत गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्धानुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।४) इति। गुरुतर-

भाष्यका अनुवाद

और चेतन जगत्का कर्त्ता है, इसका दूसरे प्रकारसे आक्षेप करते हैं। चेतन परमात्मा इस जगद्बिम्बकी रचना करे, यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तियां प्रयोजनवती होती हैं। लोकमें बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चेतन पुरुष कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ अपने प्रयोजनके अनुपयोगी सहज कामोंको भी आरम्भ करते नहीं दिखाई देता, फिर गुरुतरप्रयत्नसाध्य कामोंको बिना प्रयोजन आरम्भ न करे, इसमें कहना ही क्या है? लोकप्रसिद्धिके अनुसार श्रुति भी है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय०, (अरे मैत्रेयि! यह प्रसिद्ध है कि सबके प्रयोजनके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माके प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं)। यह प्रवृत्ति गुरुतरप्रयत्नसाध्य

रत्नप्रभा

न प्रयोजनवत्त्वात्। परितृप्ताद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स 'किमभ्रान्तश्चेतनो यः स निष्फलं वस्तु न रचयति' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमदेहस्याऽपि श्रुतिबलात् शक्तत्वोक्त्या कर्तृत्वमुक्तम्, तदाक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—अन्यथेत्यादिना। ईश्वरस्य फलाभावेऽपि परप्रयोजनाय सृष्टौ प्रवृत्तिरस्तु इत्याशङ्क्य श्रुतिमाह—भवति चेति। या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सा स्वफलार्थेति लोकप्रसिद्धिः। न च दयालुप्रवृत्तौ व्यभिचारः, तस्या अपि पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न प्रयोजनवत्त्वात्"। परितृप्त ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्तसमन्वय विषय है। 'जो अभ्रान्त चेतन है, वह निष्फल वस्तुकी रचना नहीं करता' इस न्यायसे उसका विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधिकरणमें श्रुतिसामर्थ्यसे देहरहित ब्रह्म समर्थ होनेसे कर्त्ता है, ऐसा जो कहा है, उसका आक्षेप करता है, इससे इस अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ आक्षेप सङ्गति है, और इस संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे। ईश्वरको स्वयं फलकी इच्छा नहीं है, तो भी वह दूसरेके प्रयोजनके लिए सृष्टिमें प्रवृत्त होता है, ऐसी शंका करके श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। जो विचार-

भाष्य

संरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवाऽऽत्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्माऽपि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत। तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात् सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

है क्योंकि अनेक प्रकारके प्रपञ्चोंसे युक्त जगत्की रचना करनी है। यदि यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्माके लिए अपने किसी प्रयोजनकी उपयोगिनी है, ऐसी कल्पना की जाय, तो परमात्मा परितृप्त है, ऐसा जो श्रुतिमें कहा गया है, उसका बाध हो जायगा और प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्तिका भी अभाव हो जायगा। जैसे चेतन होता हुआ भी उन्मत्त पुरुष बुद्धिके अपराधसे अपने किसी प्रयोजनके बिना भी प्रवृत्त होता दिखाई देता है, उसी प्रकार परमात्मा भी प्रवृत्त होगा, ऐसा यदि कहो, तो ऐसी परिस्थितिमें श्रुतिमें वर्णित परमात्माकी सर्वज्ञताका बाध हो जायगा। इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं घटती ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

दुःखासहनप्रयुक्तस्वचित्तव्याकुलतानिवृत्त्यर्थत्वादिति भावः। किञ्च, गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमित्याह—गुरुतरेति। तर्हि अस्तीश्वरस्याऽपि प्रवृत्तिः स्वार्था इत्यत आह—यदीयमपीति। अस्वार्थत्वे प्रवृत्त्यभावः पूर्वोक्तः स्यादित्यर्थः। ईश्वरः प्रेक्षावान्न भवतीति आशङ्क्य श्रुतिविरोधमाह—अथेत्यादिना। बुद्धेरपराधः—विवेकाभावः ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वक प्रवृत्ति होती है, वह अपने किसी प्रयोजनके लिए होती है, ऐसी लोकप्रसिद्धि है। दयालु पुरुषकी प्रवृत्तिमें व्यभिचार है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरेका दुःख सहन न होनेसे अपने चित्तमें जो व्याकुलता होती है, उसकी निवृत्ति करना उसका भी प्रयोजन है और गुरुतर आयासका फल तो कहना ही चाहिए, ऐसा कहते हैं—"गुरुतर" इत्यादिसे। तब ईश्वरकी भी प्रवृत्ति स्वार्थके लिए है, उसपर कहते हैं—"यदीयमपि" इत्यादि। अर्थात् उसका स्वार्थ न माननेसे पूर्वोक्त प्रवृत्तिका अभाव हो जायगा। ईश्वर प्रेक्षावान्—विचारवान् नहीं है, ऐसी आशंका करके उसके लिए श्रुतिका विरोध कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। बुद्धिका अपराध—विवेकका अभाव ॥ ३२ ॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—लोकवत्, तु, लीलाकैवल्यम् ।

पदार्थोक्ति—तुः—पूर्वपक्षनिरासार्थः । लोकवत्—यथा लोके राजतदमात्यादीनां फलं विनैव केवललीलारूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते [यथा वा उच्छ्वासादयः स्वभावादेवोत्पद्यन्ते तथा ब्रह्मणो विचित्रकार्यरचना] लीलाकैवल्यम्—लीलामात्रमेव न फलसापेक्षम् [अतः समन्वयो न विरुद्ध्यते] ।

भाषार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षकी निवृत्तिका सूचक है । जैसे लोकमें राजा और उसके अमात्य आदिकी फलविशेषकी आकाङ्क्षाके बिना ही क्रीडामें प्रवृत्तियां देखी जाती हैं और जैसे श्वासोच्छ्वास स्वभवतः होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मकी विचित्रकार्यरचना केवल लीलामात्र ही है । उसका कोई फल नहीं है, अतः उक्त समन्वय विरुद्ध नहीं है ।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे आक्षेपका परिहार करते हैं । जैसे लोकेमें कोई राजा या राजाका मन्त्री जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गई हैं, क्रीडाक्षेत्रमें उसकी प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे प्रयोजनकी अभिलाषा न करके केवल लीलारूप ही होती हैं और

रत्नप्रभा

उक्तन्यायस्य राज्ञां लीलायां व्यभिचार इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे-तुशब्देनेति । व्यतिरिक्तम्—लीलातिरिक्तम् । क्रीडारूपा विहारा येषु रम्यदेशेषु तेषु इत्यर्थः । कदाचिद् राजादीनां लीलाया अपि किञ्चित् फलं सुखोल्लासादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व उक्त न्यायका राजाओंकी लीलामें व्यभिचार है, ऐसा सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । व्यतिरिक्त—दूसरा अर्थात् लीलासे दूसरा । क्रीडारूप विहार जिन रम्य देशोंमें होता है, उनमें ऐसा अर्थ है । कदाचित् राजाओंकी लीलामें भी कुछ फल—सुख, उल्लास आदि हो सके, तो भी निःश्वास आदिमें प्रेक्षावत्की प्रवृत्ति है, परन्तु अपने

भाष्य

प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याऽप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न-हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतर-संरम्भेवाऽऽभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरिमितिशक्ति-

भाष्यका अनुवाद

जैसे उच्छ्वास, प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजनकी अभिसन्धिके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजनकी अपेक्षाके बिना स्वभावसे ही ईश्वरकी भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति होगी, क्योंकि युक्ति या श्रुति-से ईश्वरके अन्य प्रयोजनका निरूपण करना संभव नहीं है और स्वभावके विषय-में प्रश्न करना नहीं बनता अर्थात् इसका ऐसा स्वभाव क्यों है? यह प्रश्न करना उचित नहीं है। यद्यपि जगद्बिम्बकी रचना हम लोगोंको गुरुतर आयाससाध्य प्रतीत होती है, तो भी परमेश्वरकी यह केवल लीला ही है, क्योंकि उसकी

रत्नप्रभा

सम्भाव्येत, तथापि निःश्वासादौ प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वमस्ति न तु स्वस्य तत्रोद्देश्यं फलं किञ्चिदस्तीति व्यभिचारस्थलान्तरमाह—**यथा चेति**। प्राणस्य स्वभावः—चलत्वं प्रारब्धं वा उच्छ्वासादिहेतुः, ईश्वरस्य स्वभावः—कालकर्मसहितमाया। ननु ईश्वरस्य जगद्रचनायाः केवललीलात्वं किमिति उच्यते, फलमेव किञ्चित् कल्प्यतां तत्राह—**नहीति**। आप्तकामत्वव्याघातादित्यर्थः। ननु ईश्वरस्तूष्णीं किमिति न तिष्ठति किमिति स्वस्याऽफलां परेषां दुःखावहां सृष्टिं करोति, तत्राह—**न च स्वभाव इति**। कालधर्मादिसामग्र्यां सत्यां सृष्टेरपरिहार्यत्वादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उद्देशसे कुछ फल नहीं है, ऐसा दूसरा व्यभिचार स्थल कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। प्राणका स्वभाव—चलत्व या प्रारब्ध—उच्छ्वास आदिका हेतु है, ईश्वरका स्वभाव—कालकर्म-सहित माया है। परन्तु जगद्रचना केवल ईश्वरकी लीला है, ऐसा क्यों कहते हो, किसी फलकी भी कल्पना करो, उसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। क्योंकि ईश्वर श्रुतिमें आप्तकाम कहा गया है, उसका व्याघात हो जायगा, यह अर्थ है। और यदि कोई कहे कि ईश्वर शान्त क्यों नहीं बैठा रहता, अपनेको कुछ फल न देनेवाली और दूसरोंको दुःख देनेवाली सृष्टि किसलिए करता है, उसपर कहते हैं—"न च स्वभाव" इत्यादिसे। काल, धर्म आदि सामग्री होनेसे सृष्टिका परिहार

भाष्य

त्वात् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः । नाप्य-प्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञत्वश्रुतेश्च । न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रति-पादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

शक्ति अपरिमित है । यद्यपि लोकमें लीलाओंमें भी किसी सूक्ष्म प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा की जा सकती है, तो भी परमात्माके विषयमें किसी भी प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है, ऐसी श्रुति है, इसी प्रकार अप्रवृत्ति या उन्मत्तकीसी प्रवृत्ति भी नहीं है, क्योंकि श्रुति सृष्टिका-प्रतिपादन करती है और सर्वज्ञत्वका भी प्रतिपादन करती है । और यह सृष्टि-श्रुति परमार्थविषयिणी है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूप व्यवहार इस श्रुतिका विषय है और यह ब्रह्मात्मभावका प्रतिपादन करनेके लिए है, यह न भूल जाना चाहिए ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

यदुक्तं गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमिति, तत्र हेत्वसिद्धिमाह—**यद्यपीत्यादिना** । अल्पप्रवृत्तेरपि फलं वाच्यं लोके तथा दर्शनादित्यादितर्कस्याऽऽगमबाधमाह—**यदि नामेति** । सृष्टिश्रुतेरप्रवृत्तिर्नास्ति, सर्वज्ञत्वश्रुतेरुन्मत्तता नास्तीति विभागः । स्वप्नसृष्टिवदस्याः सृष्टेर्मायामात्रत्वान्न फलापेक्षेत्याह—**न चेयमिति** । न च निष्फ-लसृष्टिश्रुतीनामानर्थक्यम्, सफलब्रह्मधीशेषत्वेनाऽर्थवत्त्वादित्युक्तं न विस्मर्तव्यम् इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ (११)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है । और गुरुतर आयासका फल कहना चाहिए, ऐसा जो कहा है, उसमें हेतु असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । 'अल्प प्रवृत्तिका भी फल कहना चाहिए, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है, यह तर्क आगमसे बाधित है, ऐसा कहते हैं—"यदि नाम" इत्यादिसे । सृष्टिकी श्रुति होनेसे अप्रवृत्ति नहीं है और सर्वज्ञत्वकी श्रुति होनेसे उन्मत्तता नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । स्वप्नसृष्टिके समान यह सृष्टि भी मायामात्र है, इसलिए फलकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे । और निष्फल सृष्टिश्रुतियाँ अनर्थक हों, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सफल ब्रह्म प्रतीतिकी अंगभूत होनेसे वे सप्रयोजन हैं, ऐसा कहा गया है, उसको नहीं भूलना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ ३३ ॥

[१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण सू० ३४-३६]

वैषम्याद्यापतेर्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः ।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥१॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते ।
नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्ममें वैषम्य आदि दोषोंका संभव है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मनुष्य आदिके भेदसे सुख, दुःख आदिकी सृष्टि करता हुआ ईश्वर विषम होगा और सबका संहार करता हुआ निर्घृण होगा ।

सिद्धान्त—प्राणियों द्वारा अनुष्ठित धर्म आदिकी अपेक्षासे ईश्वर प्रवृत्त होता है, इसलिए वैषम्य, नैर्घृण्य दोष नहीं है और संसार अनादि है ।

---

* तात्पर्य यह कि—पूर्वपक्षी कहता है कि ईश्वर देवता आदिको अत्यन्त सुखी उत्पन्न करता है, पशु आदियोंको अत्यन्त दुःखी उत्पन्न करता है, मनुष्योंको सुखदुःखसाधारण उत्पन्न करता है, इस प्रकार तारतम्यसे प्राणिविशेषमें सुख, दुःख उत्पन्न करता हुआ ईश्वर विषम क्यों न होगा और नीचोंसे भी अत्यन्त जुगुप्सित देव, पशु, मनुष्य आदि सम्पूर्ण जगत् का संहार करता हुआ निर्घृण क्यों न होगा । इसलिए ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वरमें वैषम्य दोष लागू नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके उत्तम, मध्यम और अधम रूप वैषम्यमें उनके कर्म ही प्रयोजक हैं । इससे ईश्वरकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह अन्तर्यामी होनेके कारण कर्माध्यक्ष है । यदि ऐसा हो, तो घट्टकुटीप्रभातन्याय प्राप्त होगा, क्योंकि ईश्वरमें वैषम्यका परिहार करनेके लिए कर्मोंको वैषम्यका हेतु कहकर पुनः ईश्वरकी स्वतंत्रताकी सिद्धिके लिए उसे कर्मनियामक माननेसे अन्ततोगत्वा ईश्वरमें ही वैषम्यका प्रसंग होगा । यह दोष नहीं है, क्योंकि नियामकत्वका अर्थ उन उन वस्तु शक्तियों की अव्यवस्थाका परिहारमात्र है, शक्तियां तो मायाकी शरीरभूत हैं उनका उत्पादक ईश्वर नहीं है । इसलिए अपनी अपनी शक्तिके वशसे कर्म वैषम्यके हेतु होनेपर भी उनके व्यवस्थापक ईश्वरके वैषम्यका प्रसंग नहीं है । संहार तो सुषुप्तिके समान दुःखका कारण नहीं है, किन्तु उसके विपरीत सब क्लेशोंका निवर्तक होनेसे दयालु ही है । अवान्तर सृष्टियोंमें पूर्व पूर्व कर्मोंकी अपेक्षासे सृष्टि करते हुए ईश्वरमें वैषम्य न होनेपर भी प्रथम सृष्टिमें पूर्व कर्मके संभव न होनेसे वैषम्य दोष ज्योंका त्यों है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सृष्टिपरम्परा अनादि है । इसमें "नान्तो न चादिः" (न इसका अन्त है, न आदि है) इत्यादि स्मृति प्रमाण है । इससे कोई दोष नहीं है ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—वैषम्यनैर्घृण्ये, न, सापेक्षत्वात्, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—वैषम्यनैर्घृण्ये न—ब्रह्मणो वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम्, [कुतः] सापेक्षत्वात्—प्राणिकर्मसापेक्षत्वात् [ननु कस्मात् ब्रह्मणः कर्मसापेक्षत्वम् ? अत आह] तथाहि दर्शयति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्याद्या श्रुतिः ।

भाषार्थ—ब्रह्ममें विषमता और निष्करुणता दोष लागू नहीं होते, क्योंकि जो कुछ प्राणियोंको दुःख ही दुःख, कुछको सुख और दुःख और कुछको अतिसुख प्राप्त होता है वह उनके कर्मोंपर निर्भर है । ब्रह्म कर्मके अनुसार सुखदुःख देता है इस विषयमें 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याऽऽक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्याऽर्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चि-

भाष्यका अनुवाद

ईश्वर जगत् के जन्म आदिका हेतु है, इस प्रतिज्ञात अर्थको स्थूणानिखनन-न्यायसे दृढ़ करनेके लिए फिर आक्षेप करते हैं । ईश्वर जगत्का कारण है, यह उपपन्न नहीं होता । किससे ? वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे । वह कुछको—

रत्नप्रभा

वैषम्यनैर्घृण्ये नेति । निर्दोषाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषय स किं 'यो विषमकारी स दोषवान्' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वत्र लीलया यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तदेव कर्मादिसापेक्षस्य न युक्तम्, अनीश्वरत्वापत्तेः, निरपे-क्षत्वे रागादिदोषापत्तेः इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—**पुनश्चेत्यादिना** । ब्रह्मैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्दोष ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्त समन्वय इस अधिकरणका विषय है, वह क्या 'जो विषम कार्य करता है, वह दोषवान् है' इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधि-करणमें लीलासे जो स्रष्टृत्व कहा गया है, वही कर्मादिकी अपेक्षा रखनेवाले ईश्वरमें युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसमें अनीश्वरत्व प्रसंग आवेगा और निरपेक्ष होकर स्रष्टा माननेसे रागादि दोष उसमें प्रसक्त होंगे, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे । ब्रह्म ही

भाष्य

दत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिको वह अत्यन्त सुखी बनाता है, कुछको—पशु आदिको अत्यन्त दुःखी बनाता है और कुछको—मनुष्य आदिको सुख-दुःख भोगनेवाला बनाता है। इस प्रकार विषम सृष्टिका निर्माण करनेवाले ईश्वरमें साधारण मनुष्यके समान राग और द्वेषकी उपपत्ति होनेसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये स्वच्छतादि ईश्वरस्वभावका लोप हो जायगा। इसी प्रकार उसने सब प्राणियोंको दुःखी बनाया है और वह सब प्रजाका संहार करता है, इसलिए उसमें दुष्टजनोंसे भी गर्हित निर्घृणत्व—अतिक्रूरताकी प्राप्ति होगी। इसलिए वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे ईश्वर कारण नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वैषम्य और नैर्घृण्य ईश्वरमें प्रसक्त नहीं होते। किससे? सापेक्ष होनेसे। यदि ईश्वर केवल निरक्षेप होकर विषम सृष्टिका निर्माण

रत्नप्रभा

जगत्कारणमिति जन्मादिसूत्रे प्रतिज्ञातोऽर्थः। पृथग्जनः—पामरः। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिः, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति स्मृतिः, स्वच्छत्वादीति आदिपदेन कूटस्थत्वग्रहः। स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्चेति विग्रहः।

निमित्तमनपेक्ष्य विषमकारित्वे वैषम्यादिदोषः स्यात्, न तु अनपेक्षत्वमीश्वरस्यास्तीति सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इत्यादिना**। न च सापेक्षत्वे अनीश्वरत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्का कारण है, ऐसा जन्मादि सूत्रमें प्रतिज्ञात अर्थ है। पृथग्जन—पामर। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' ऐसी श्रुति है और 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' ऐसी स्मृति है। 'स्वच्छत्वादि'में आदि पदसे कूटस्थत्वका ग्रहण है। 'स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्च' ऐसा विग्रह है।

यदि निमित्तकी अपेक्षाके बिना ईश्वर विषम सृष्टि करे, तो वैषम्य आदि दोष होंगे, परंतु ईश्वर सृष्टि करनेमें निरपेक्ष नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। ईश्वरके सापेक्ष होनेसे वह

भाष्य

स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्याऽपराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवाऽसाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्य-

भाष्यका अनुवाद

करता, तो वैषम्य और नैर्घृण्य ये दो दोष होते। परन्तु वह निरपेक्ष होकर निर्माण नहीं करता, बल्कि सापेक्ष होकर विषम सृष्टिका निर्माण करता है। किसकी अपेक्षा रखता है, ऐसा कहो, तो धर्म और अधर्मकी अपेक्षा रखता है, ऐसा हम कहते हैं। सृज्यमान प्राणियोंके धर्म और अधर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम होती है, अतः ईश्वरका कोई अपराध नहीं है। ईश्वरको तो पर्जन्यके समान समझो। जैसे व्रीहि, यव आदिकी सृष्टिमें पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदिकी विषमतामें तो उस बीजमें रहनेवाली सामर्थ्य असाधारण कारण है। इस प्रकार देव, मनुष्य आदिकी सृष्टिका ईश्वर साधारण कारण है और देव, मनुष्य आदि की विषमतामें तो तत् तत् जीवमें रहनेवाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्मकी अपेक्षा रखनेसे वैषम्य और नैर्घृण्यरूप दोषोंका

रत्नप्रभा

सेवामपेक्ष्य फलदातरि राज्ञि ईश्वरत्वानपायात्। ननु तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव विचित्रा सृष्टिरस्तु, किमीश्वरेण? इत्यत आह—**ईश्वरस्तु पर्जन्यवदिति**। साधारणहेतुसहितस्यैव असाधारणहेतोः कार्यकारित्वाद् न ईश्वरवैयर्थ्यम्, अन्यथा पर्जन्यवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनीश्वर हो जायगा यह कहना अयुक्त है, क्योंकि सेवाके अनुसार फल देनेवाले राजाका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। तब धर्म और अधर्मसे ही विचित्र सृष्टि हो, ईश्वरका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—"ईश्वरस्तु पर्जन्यवत्" इत्यादिसे। साधारण हेतुके साथ ही असाधारण हेतु कार्य करता है, इसलिए ईश्वर व्यर्थ नहीं है, ऐसा न हो, तो पर्जन्यको भी व्यर्थ मानना पड़ेगा।

भाष्य

मोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति। तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च। स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्याऽनुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवं जातीयका ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

भाजन नहीं होता। परन्तु सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसारका निर्माण करता है, यह कैसे समझा जाता है? श्रुति उसी प्रकार को दर्शाती है—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति०' (जिसको इस लोकसे ऊंचा ले जाना चाहता है, उससे यही साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे यही बुरे कर्म कराता है) और 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा०' (पुण्य कर्मसे पुण्यशाली और पाप कर्मसे पापी होता है)। स्मृति भी प्राणियोंके कर्म विशेषकी अपेक्षा रखकर ही ईश्वर अनुग्रह और निग्रह करता है, ऐसा दिखलाती है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते०' (जो जैसे मुझको प्राप्त करता है, उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस प्रकारकी स्मृति है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

भावः। यं जनम् उन्निनीषते ऊर्ध्वं नेतुमिच्छति तं साधु कारयति, एष ईश्वर इत्यन्वयः। न च कञ्चिद् जनं साधु कञ्चिदसाधु कर्म कारयतो वैषम्यं तदवस्थमिति वाच्यम्। अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वाभावेन जनस्य तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वर इति भावः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस मनुष्यको ऊँची स्थितिमें ले जाना चाहता है, उससे यह ईश्वर साधु कर्म कराता है, ऐसा अन्वय समझना चाहिए, परन्तु किसी एक पुरुषसे साधु कर्म कराता है और किसीसे असाधु कर्म कराता है, इसलिए ईश्वरमें वैषम्य ज्यों का त्यों है यह कहना युक्त नहीं है, अनादि कालसे पूर्वसंचित साधु या असाधु वासनाओंसे पुरुष स्वभावसे ही तत् तत् कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, इसमें ईश्वर साधारण हेतु है, इससे ईश्वर दोषरहित है, ऐसा अर्थ है ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, कर्म, अविभागात्, इति, चेत्, न अनादित्वात् ।

पदार्थोक्ति—अविभागात्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव' इत्यादिश्रुत्या सृष्टेः प्राक् अविभागावधारणात्, न कर्म—न तदानीं कर्मास्ति [अतः 'कर्मापेक्षया विषमा सृष्टिः' इति असंगतम्] इति चेत्, न, अनादित्वात्—संसारस्य अनादित्वात् तयोः बीजाङ्कुरवद् हेतुहेतुमद्भावोपपत्तेः । [अतः कर्मापेक्षयैव सृष्टिः विषमा भवति] ।

भाषार्थ—'सदेव सोम्ये०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्व यह जगत् एक सत् रूप ही था) इत्यादि श्रुतिसे सृष्टिके पूर्व भेदका अभाव कहा गया है, अतः उस समय कर्म नहीं था, इसलिए कर्म की अपेक्षासे विषम सृष्टि है यह कथन असंगत है ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि संसारके अनादि होनेसे सृष्टि और कर्मका बीज और अंकुरके समान कार्यकारणभाव है । इससे सिद्ध हुआ कि कर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम है ।

भाष्य

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात् । सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग

भाष्यका अनुवाद

'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह एक अद्वितीय सत्स्वरूप ही था) इस प्रकार सृष्टिके पूर्वमें भेदका अभाव निश्चित किया है, इससे कर्म ही नहीं है जिसकी अपेक्षासे विषम सृष्टि हो । शरीरादि विभागकी अपेक्षा रखनेवाला

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गस्य वैषम्यहेतुकर्माभावादेकरूपत्वं स्यात्, तथा तदुत्तरकल्पानामपीति आक्षिप्य समाधत्ते सूत्रकारः—**न कर्मेति** । प्रथमसृष्टेः पश्चाद् भाविकर्मकृतं वैषम्यमित्याशङ्क्य अन्योन्याश्रयमाह—**सृष्ट्युत्तरेति** । आद्या सृष्टिरिति उपलक्षणम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टिमें वैषम्यके हेतु कर्मोंके अभावसे एकरूप ही सृष्टि हो और पीछेके कल्पोंमें भी ऐसी ही हो, ऐसा आक्षेप करके सूत्रकार समाधान करते हैं—"न कर्म" इत्यादिसे । प्रथम सृष्टिमें पीछेसे होनेवाले कर्मोंसे जनित वैषम्य है, ऐसी आशंका करके अन्योन्याश्रय कहते

भाष्य

इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत । अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम, प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात् तुल्यैवाऽऽद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ।

नैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

कर्म सृष्टिके उत्तर कालमें होता है और शरीरादि विभागको कर्मकी अपेक्षा है, ऐसा इतरेतराश्रय प्रसक्त होगा । इस कारणसे विभागके बाद कर्मकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर प्रवृत्तिमान् भले हो, परन्तु विभागके पूर्व वैचित्र्यका निमित्त जो कर्म है, उसके अभावसे आद्य सृष्टि तो तुल्य ही प्राप्त होती है, ऐसा यदि कहो,

तो यह दोष नहीं है, क्योंकि संसार अनादि है । यह संसार सादि होता, तो यह दोष होता । परन्तु संसारके अनादि होनेसे बीज और अंकुरके समान हेतुहेतुमद्भावसे कर्म और विषम सृष्टिकी प्रवृत्तिमें कोई विरोध नहीं है ॥ ३५ ॥

यह संसार अनादि है यह कैसे जाना जाता है ? इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

आदौ एकरूपत्वे मध्ये विषमकर्मोत्पत्तौ हेत्वभावेन उत्तरसृष्टीनामपि तुल्यत्वस्य दुर्वारत्वादिति द्रष्टव्यम्। परिहारः सुगमः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—'सृष्ट्युत्तर'' इत्यादिसे । आद्य सृष्टि यह उपलक्षण है । आरंभमें सृष्टि एकरूप हो, तो मध्यमें विषम कर्मकी उत्पत्तिके लिए हेतु न होनेसे उत्तर सृष्टियोंका भी तुल्यत्व दुर्निवार होगा, ऐसा समझना चाहिए । इसका खण्डन सहज है[1] ॥ ३५ ॥

१—यदि संसार सादि होता तो विचित्रताके निमित्तोंका अभाव होनेके कारण उसमें एकरूपता होती । लेकिन संसार अनादि है, अतः पूर्व-पूर्व कर्मोंकी विचित्रतासे उत्तर-उत्तर विचित्र सृष्टि होती है ऐसा सिद्धान्तीका अभिप्राय है ।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—उपपद्यते, च, अपि, उपलभ्यते, च ।

पदार्थोक्ति—उपपद्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपपद्यते च, [अन्यथाऽकस्मादेव सृष्ट्यङ्गीकारे मुक्तस्यापि पुनर्जन्म प्रसंगात्, पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तेश्च] उपलभ्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपलभ्यते च ["धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतेः, 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' इत्यादिस्मृतेश्च]

भाषार्थ—संसारकी अनादिता उपपन्न है, सृष्टिकी अनादिता न मानकर यदि अकस्मात् सृष्टि मान ली जाय, तो मुक्तोंका भी पुनर्जन्म होनेकी नौबत आयेगी और पूर्व सृष्टिका सादृश्य अनुपपन्न हो जायगा। श्रुति और स्मृतिमें संसारकी अनादिता उपलब्ध होती है, क्योंकि 'धाता यथापूर्वम्०' (ब्रह्माने पूर्वके अनुसार ही जगत्की सृष्टि की) इत्यादि श्रुति और "न रूपमस्येह०" (इस कल्पित जगत्का पारमार्थिक अधिष्ठान पर ब्रह्मको प्राकृत पुरुष घट, पट आदिके समान नहीं देख सकते । इस जगत्का न अन्त है, न आदि है और न मध्य है) इत्यादि स्मृति है।

भाष्य

उपपद्यते च संसारस्याऽनादित्वम् । आदिमत्त्वे हि संसारस्याऽकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः । अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुख-

भाष्यका अनुवाद

संसारकी अनादिता, उपपन्न है । यदि संसार सादि हो, तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होनेसे मुक्त पुरुषोंके भी संसारमें फिरसे जन्म होनेकी नौबत आ जायगी।

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गः कश्चिद् नास्ति इत्यत्र प्रमाणं पृच्छति—**कथं पुनरिति** । उपपत्तिसहितश्रुत्यादिकं प्रमाणमिति सूत्रव्याख्यया दर्शयति—**उपद्यते इति** । हेतुं विनैव सर्गाङ्गीकारे ज्ञानकर्मकाण्डवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । ननु सुखादिवैषम्ये ईश्वरोऽविद्या वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टि कोई नहीं है, इसमें प्रमाण पूछते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । उपपत्तिसहित श्रुति आदि प्रमाण हैं, ऐसा सूत्रकी व्याख्यासे दिखलाते हैं—'उपपद्यते' इत्यादिसे । हेतुके बिना सृष्टिका अंगीकार करनेसे ज्ञानकांड और कर्मकांड व्यर्थ हो जायँगे ऐसा अर्थ है। परंतु

भाष्य

दुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात् । न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम् । न चाऽविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात् । रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च संसारस्याऽना-

भाष्यका अनुवाद

अकृत पाप पुण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सुख, दुःख आदि विषमता अनिमित्त होगी । ईश्वर वैषम्यका हेतु नहीं है, यह पीछे कहा गया है । इसी प्रकार केवल अविद्या भी वैषम्यकी कारण नहीं है, क्योंकि वह एकरूप है । रागादि क्लेशोंकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए कर्मोंकी अपेक्षासे तो अविद्या वैषम्य उत्पन्न करनेवाली हो सकती है । कर्मके बिना शरीर नहीं हो सकता और शरीरके बिना कर्म नहीं हो सकता, इस प्रकार अन्योन्याश्रयका प्रसंग आवेगा । परन्तु संसार अनादि है यह माननेमें बीजांकुरन्यायसे उपपत्ति होनेसे कुछ भी दोष नहीं है । संसार अनादि है

रत्नप्रभा

हेतुरस्तु इत्याशङ्क्य क्रमेण दूषयति--**न चेश्वर इत्यादिना** । कस्तर्हि हेतुः, तत्राह—**रागादीति** । रागद्वेषमोहाः क्लेशाः, तेषां वासनाभिराक्षिप्तानि कर्माणि धर्माधर्मव्यामिश्ररूपाणि, तदपेक्षा तु अविद्या सुखादिसर्गवैचित्र्यहेतुः, तस्मादविद्यासहकारित्वेन क्लेशकर्मणाम् अनादिप्रवाहोऽङ्गीकर्तव्य इति भावः । किञ्च, सृष्टेः सादित्वे प्रथमशरीरस्योत्पत्तिर्न सम्भवति हेत्वभावात, न च कर्म हेतुः शरीरात् प्राक् कर्मासम्भवात्,तस्मात् कर्मशरीरयोरन्योन्याश्रयपरिहाराय सर्वैरेव वादिभिः संसारस्य अनादित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुखादि वैषम्यका ईश्वर या अविद्या हेतु हो, ऐसी आशंका करके क्रमशः दूषित करते हैं—"न चेश्वरः" इत्यादिसे । विषम सृष्टिमें कौन कारण है ? इसपर कहते हैं—"रागादि" इत्यादिसे । रागादि ही क्लेश हैं उनकी वासना कर्मप्रवृत्तिके अनुगुण है । वासनाओंसे आक्षिप्त अर्थात् प्रवर्तित हुए कर्म धर्म-अधर्मसे मिश्रित होते हैं उनकी अपेक्षासे अविद्या सुखादि विचित्र सृष्टिमें हेतु है । इसलिए अविद्याके सहकारी होनेसे क्लेश कर्मोंका अनादि प्रवाह स्वीकार करना चाहिए ऐसा भाव है । और सृष्टि सादि—आदिमान् हो, तो प्रथम शरीरकी उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि हेतुका अभाव है । कर्म भी हेतु नहीं है, क्योंकि शरीरके पूर्व कर्मका असंभव है, इसलिए कर्म और शरीरके अन्योन्याश्रयका परिहार करनेके लिए सर्ववा-

भाष्य

दित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुतौ तावत् "अनेन जीवेनात्मना" (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाऽभिलपन्न-नादिः संसार इति दर्शयति । आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत । न च धारयिष्य-तीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलीयान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ०सं० १०। १९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृतावप्यनादि-त्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न

भाष्यका अनुवाद

ऐसा श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध होता है । श्रुतिमें 'अनेन जीवेनात्मना' (उस जीवरूप आत्मा द्वारा) इस प्रकार सृष्टिके आरंभमें शारीर आत्मा को प्राण-धारण कर्ता होनेके कारण जीवशब्दसे कहकर संसार अनादि है, ऐसा दिखलाते हैं। परन्तु संसार आदिमान् हो, तो पूर्वमें प्राणधारण न करनेपर प्राणधारण निमित्त जीवशब्दसे सृष्टिके आरंभमें उसका किस प्रकार निर्देश होगा ? 'धारयिष्यति' (धारण करेगा) इससे ऐसा निर्देश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनागत संबन्धसे अतीत संबंध अभिनिष्पन्न—सिद्ध होनेके कारण बलवान् है । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (सूर्य और चन्द्रमाकी धाताने पूर्वके अनुसार कल्पना की) यह मंत्रवर्ण पूर्व कल्पका सद्भाव दिखलाता है । स्मृतिमें भी संसार अनादि है, ऐसा उपलब्ध होता है—'न रूपमस्येह०' (यहां उसका वैसा रूप उपलब्ध नहीं

रत्नप्रभा

अङ्गीकार्यमित्याह—न चेति । सर्गप्रमुखे सृष्ट्यादौ प्रागनवधारितप्राणोऽपि सन् प्रत्यगात्मा भाविधारणनिमित्तेन जीवशब्देनोच्यतामित्यत्राह—न च धारयिष्यतीति । "गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयाद्" इत्यादावगत्या भाविवृत्त्याश्रयणमिति भावः । अस्य संसारवृक्षस्य स्वरूपं सत्यं मिथ्या वेति उपदेशं विना नोपलभ्यते, ज्ञानं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दियोंको संसारका अनादित्व स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'न च" इत्यादिसे । पूर्वमें सृष्टिके आरंभमें प्राणधारण नहीं करनेपर भी प्रत्यगात्माको भावी प्राणधारणनिमित्त जीवशब्दसे कहो, इसपर कहते हैं—"न च धारयिष्यति" इत्यादिसे । 'गृहस्थ अपने सदृश भार्यासे विवाह करे' इत्यादिमें अगत्या भविष्य वृत्तिका आश्रयण किया गया है यह भाव है । इस संसारवृक्षका स्वरूप सत्य है या मिथ्या यह उपदेशके बिना समझमें नहीं

भाष्य

च सम्प्रतिष्ठा' (गी० १५।३) इति । पुराणे चाऽतीतानामनागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता, उसका अन्त, आदि और मध्य नहीं है)। और पुराणोंमें अतीत और अनागत कल्पोंका परिमाण नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

ऽन्तोऽपि नास्ति, नाप्यादिरुपलभ्यते, असत्त्वादेव; न च सम्प्रतिष्ठा—मध्ये स्थितिः दृष्टनष्टस्वरूपत्वादिति गीतावाक्यार्थः । संसारस्य अनादित्वेऽपि मिथ्यात्वाद् "एकमेवाद्वितीयम्" [छा० ६।२।१] इत्यवधारणमुपपन्नम् । तस्मात् निरवद्ये ब्रह्मणि समन्वयाविरोध इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥ (१२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

आता, ज्ञानके बिना इसका अंत भी नहीं है, उसका आदि भी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व ही नहीं है; संप्रतिष्ठा—स्थिति भी नहीं है, क्योंकि दृष्टनष्टस्वरूप है, ऐसा गीतावाक्यका अर्थ है। संसार अनादि है, तो भी मिथ्या होनेसे 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) यह अवधारण उपपन्न है। इसलिए निर्दोष ब्रह्ममें समन्वयका अविरोध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥

[१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण ३७]

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्याऽस्ति नास्ति सा ।
मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥१॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।
निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—निर्गुण प्रकृति—उपादानकारण हो सकता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें मृत्तिका आदि सगुण ही—उपादानकारण देखे गये हैं। इसलिए निर्गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्त—हम भ्रमके अधिष्ठानको प्रकृति कहते हैं, निर्गुण जाति आदि भी प्रकृति हैं, इसलिए ब्रह्म प्रकृति हो सकता है ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—सर्वधर्मोपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—सर्वधर्मोपपत्तेश्च—जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादीनां सर्वेषां कारण-धर्माणां पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मण्येवोपपत्तेः निर्गुणं सदपि ब्रह्मैव जगत्कारणं भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि सब कारण धर्मोंकी पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्ममें उपपत्ति होनेसे निर्गुण भी ब्रह्म जगत्का कारण हो सकता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—कार्यके आकारसे विकृत—परिणत होनेवाली वस्तु प्रकृति है । लोकमें सगुण मिट्टी आदि ही प्रकृति देखे गये हैं, इसलिए निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि 'प्रक्रियतेऽनया प्रकृतिः' इस व्युत्पत्तिसे कार्यरूपसे प्रकृत—परिणत होनेवाली वस्तु ही प्रकृति प्रतीत होती है, तथापि विकृत होना दो प्रकारसे संभव होता है—जैसे दूध आदि दही आदिके रूपमें परिणत होते हैं और जैसे रस्सी आदि सर्प आदि भ्रमके अधिष्ठान होते हैं । निर्गुण ब्रह्म यद्यपि परिणामी नहीं है तथापि भ्रमका अधिष्ठान तो वह हो ही सकता है । निर्गुण जाति आदिमें भ्रमकी अधिष्ठानता देखी जाती है । क्योंकि मलिन ब्राह्मणको देख कर 'यह शूद्र है' ऐसा भ्रमरूप व्यवहार होता है । इससे निर्गुण ब्रह्म भी प्रकृति है यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान् विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समानः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है, इस निश्चित वेदार्थमें प्रतिपक्षियों द्वारा लगाये गये विलक्षणत्व आदि दोषोंका आचार्यने परिहार किया। अब जिसमें परपक्षका निषेध प्रधान है, ऐसे प्रकरणके आरंभ करनेकी इच्छा करते हुए (आचार्य) जिस प्रकरणमें स्वपक्षका परिग्रह प्रधान है, उसका उपसंहार करते

रत्नप्रभा

सर्वधर्मोपपत्तेश्च। निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिवेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं यत् निर्गुणं तन्नोपादानं यथा रूपमिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे भवत्वीश्वरस्य विषमसृष्टिनिमित्तत्वम्, तत्प्रयोजकस्य कर्मणः सत्त्वान्न तूपादानत्वम्, तद्व्यापकस्य सगुणत्वस्य अभावादिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रतात्पर्यमाह—चेतनमिति। विवर्तोपादानत्वं निर्गुणस्याऽप्यविरुद्धम्, अज्ञातत्वस्य भ्रमाधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य सत्त्वात्, सगुणत्वं त्वव्यापकम् शब्दादिगुणेषु नित्यत्वादिभ्रमदर्शनादिति भावः। यद्यपि सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च लोके कारणधर्मत्वेन अप्रसिद्धम्, तथापि यो यस्य कर्ता स तस्य सर्वस्य ज्ञाता शक्तश्चेति प्रसिद्धम्, ईश्वरस्यापि सर्वकर्तृत्वश्रवणात् प्रसिद्ध्यनुसारेणाऽर्थान्निरतिशयसर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्व धर्मोपपत्तेश्च"। निर्गुण ब्रह्मको जगत्का उपादान कहनेवाला वेदान्त समन्वय विषय है, वह 'जो निर्गुण है, वह उपादान नहीं है, जैसे रूप', इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ऐसा सन्देह होनेपर ईश्वर विषम सृष्टिका निमित्त कारण हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोजक कर्म है, परन्तु उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि उसके व्यापक सगुणत्वका अभाव है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त सूत्रका तात्पर्य कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। विवर्तका उपादानत्व निर्गुणमें भी अविरुद्ध है, क्योंकि जो अज्ञात है, वह भ्रमके अधिष्ठानका प्रयोजक हो सकता है। सगुणत्व तो अव्यापक है, क्योंकि शब्दादि गुणोंमें नित्यत्वादि भ्रम देखनेमें आता है, यह अर्थ है। यद्यपि सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व लोकमें कारणरूपसे अप्रसिद्ध है, तो भी जो जिसका कर्ता है, वह उस सबका ज्ञाता है और समर्थ है, यह प्रसिद्ध है। ईश्वर भी सबका कर्ता है, ऐसा श्रुति कहती है। इसलिए प्रसिद्धिके अनुसार अर्थात् निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व सिद्ध होता है, ऐसा विचार कर

भाष्य

उपपद्यन्ते "सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

हैं। इस ब्रह्मका कारणरूपसे स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त प्रकारसे 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति०' (ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् महामायायुक्त है) ऐसे सब कारणधर्म उपपन्न होते हैं, इसलिए औपनिषद दर्शनपर शंका करना ठीक नहीं है ॥३७॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शांकरभाष्य भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

च—सिध्यतीति अभिसन्धायाऽऽह—सर्वज्ञं सर्वशक्तीति । महामायमिति कर्तृत्वोपादानत्वकथने सर्वशङ्कापङ्कक्षालनायोक्तम् । तस्मादौपनिषदसिद्धान्ते न कश्चिद् दोष इति सिद्धम् ॥३७॥२।१॥ (१३) ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन-भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं "सर्वज्ञं सर्वशक्ति" इत्यादि। ब्रह्म कर्ता और उपादान है, यह कहनेमें सब शंकारूपी पंकका प्रक्षालन करनेके लिए "महामायम्" ऐसा कहा है, इसलिए औपनिषद दर्शनमें कुछ भी दोष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३७॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके प्रथम पादका रत्नप्रभा भाषानुवाद समाप्त।

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् ।]

[१ रचनानुपपत्त्यधिकरण सू० १-१०]

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः ।
अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥१॥
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।
सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः* ॥२॥

सन्देह—प्रधान जगत् का हेतु है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—चूंकि घट, पट आदि सब पदार्थ सुख, दुःख और मोह से युक्त हैं, अतः प्रतीत होता है कि (सुख-दुःख-मोहात्मक) प्रधान जगत्का हेतु है ।

सिद्धान्त—विचित्र जगत् की रचना और उसमें प्रवृत्तिका संभव न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का हेतु नहीं है । सुख, दुःख आदि आन्तर हैं, और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः घट, पट आदि सुख-दुःख-मोहात्मक कैसे हो सकते हैं ?

---

* तात्पर्य यह है कि सांख्य लोग कहते हैं—सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान जगत्का कारण है, क्योंकि जगत्में सभी पदार्थ सुख-दुःखसे युक्त दिखाई देते हैं । जब घट, पट आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं तब उनसे सुख होता है, क्योंकि उनसे जल लाना, शरीर आच्छादन आदि कार्यों का निर्वाह होता है । जब उन्हीं घट आदिको कोई चुरा ले जाता है, तब उसीको वे दुःख देते हैं । जिसे जल लाना आदि कार्यों की अपेक्षा नहीं है, उसे सुख और दुःख नहीं देते, किन्तु केवल उपेक्षणीयरूपसे स्थित रहते हैं । उपेक्षाका विषय होना ही मोह है । वैचित्त्यार्थक 'मुह' धातुसे मोहशब्दकी निष्पत्ति हुई है, अतएव उपेक्षणीय वस्तुओंमें चित्तवृत्ति नहीं जाती है । इसलिए सुख, दुःख और मोहका अन्वय—सम्बन्ध देखनेसे प्रधान प्रकृति है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—नहीं, प्रधान जगत्का हेतु नहीं है, क्योंकि देह, इन्द्रिय, पर्वत आदि असाधारण अवयवसंगठनसे युक्त जगत्की रचना करना अचेतन प्रधानकी योग्यताके बाहर है । व्यवहार में विचित्र महल आदि प्रतिनियत कार्यके निर्माता कोई अन्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति ही देखे जाते हैं । रचनाकी बात जाने दीजिए। रचनाकी सिद्धिके लिए अचेतनकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि चेतनसे अनधिष्ठित गाड़ी आदिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । यदि चेतन पुरुषको प्रकृति—प्रधानका अधिष्ठाता मानें तो पुरुषकी असङ्गताकी हानि होती है । इससे सिद्धान्त ही चौपट होता है । और जो यह कहा है कि घट, पट आदि सुख, दुःख और मोहसे युक्त है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुख, दुःख आदि आन्तर हैं और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः उनका समन्वय ही नहीं हो सकता । इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान जगत् का हेतु नहीं है ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

पदच्छेद—रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम् ।

पदार्थोक्ति—अनुमानम्—'जगत् सुखदुःखमोहात्मकवस्तूपादानकं तदन्वितत्वात् मृदन्वितघटवत्' इत्यनुमानसिद्धं प्रधानम्, न—न जगदुपादानम्, [कुतः] रचनानुपपत्तेः—अचेतनात् स्रष्टव्यज्ञानशून्यात् प्रधानात् अनेकविधविचित्ररचनानुपपत्तेः । च—सुखादीनामान्तरत्वप्रतिपत्तेश्च [तदन्वितत्वं जगतोऽसिद्धम्, तस्मान्नास्ति सांख्यसिद्धान्तः प्रामाणिकः] ।

भाषार्थ—जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बना हुआ है, सुख-दुःख-मोहसे युक्त होनेके कारण, मिट्टीसे बने हुए मृत्तिकायुक्त घटके समान, इस अनुमानसे सिद्ध प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं है, क्योंकि स्रष्टव्यके ज्ञानसे रहित अचेतन प्रधानसे विविध विचित्र रचनाएँ नहीं बन सकतीं। दूसरी बात यह है कि सुख, दुःख आदि आभ्यन्तर हैं उनसे बाह्य जगत्का अन्वित होना असिद्ध है, इसलिए सांख्यसिद्धान्त प्रामाणिक नहीं है ।

भाष्य

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि यह शास्त्र वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है, तर्कशास्त्र की भाँति केवल युक्तियोंसे किसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करने या

रत्नप्रभा

सांख्यतार्किकबौद्धाश्च जैनाः पाशुपतादयः ।
यस्य तत्त्वं न जानन्ति तं वन्दे रघुपुङ्गवम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तिवत् प्रधानेऽपि तदुपपत्तिम् आशङ्क्य निराचष्टे—**रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्** । ननु मुमुक्षूणां वाक्यार्थनिर्णयप्रतिबन्धनिरासाय वेदान्तानां तात्पर्यं निश्चेतुमिदं शास्त्रम् आरब्धम्, तच्च निर्दोषतया निश्चितम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्य, नैयायिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत आदि जिनके तत्त्वको नहीं जानते उन रघुपुंगव (श्रीरामचन्द्रजी) को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्ममें जैसे सब धर्मोंकी उपपत्ति संभव है उसी प्रकार प्रधानमें भी सब धर्मोंकी उपपत्ति सम्भव है ऐसी आशङ्का करके निराकरण करते हैं—"रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्" । यद्यपि मुमुक्षुओंके वाक्यार्थके निर्णय करनेमें जो प्रतिबन्धक हैं उनके निराकरण द्वारा वेदान्तोंके तात्पर्य्यका निर्णय करनेके लिए इस शास्त्रका आरम्भ किया गया है ।

भाष्य

तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते । वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात् तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं तदभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति । ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन

भाष्यका अनुवाद

किसीको दूषित करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तथापि वेदान्तवाक्योंका व्याख्यान करनेवालेको सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षभूत सांख्य आदि दर्शनोंका निराकरण करना चाहिए, इसीके लिए यह पाद प्रवृत्त हुआ है। वेदान्तवाक्योंके अर्थका ठीक ठीक निर्णय करनेका प्रयोजन तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति ही है, इसलिए निर्णयसे पहले अपने पक्षकी स्थापना की, क्योंकि अन्य मतके खण्डन करने की अपेक्षा वह अभ्यर्हित—श्रेष्ठ है। परन्तु मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्तिके साधन रूपसे तत्त्वज्ञानके निरूपण करनेके लिए केवल स्वपक्षका स्थापन करना ही युक्त है, दूसरेके

रत्नप्रभा

ततः परपक्षनिरासात्मकोऽयं पादः अस्मिन् शास्त्रे न सङ्गतः, तन्निरासस्य मुमुक्ष्वनपेक्षितत्वाद् इति आक्षिपति—**यद्यपीति** । परपक्षनिराकरणं विना स्वपक्षस्थैर्यायोगात् तत् कर्तव्यम् इत्याह—**तथापीति** । तर्हि स्वपक्षस्थापनात् प्रागेव परपक्षप्रत्याख्यानं कार्यमित्यत आह—**वेदान्तार्थेति** । वेदान्ततात्पर्यनिर्णयस्य फलवज्ज्ञानकरणान्तर्भावाद् अभ्यर्हितत्वम् । ननु रागद्वेषकरत्वात् परमतनिराकरणं न कार्यमिति शङ्कते—**नन्विति** । तत्त्वनिर्णयप्रधाना खल्वियं कथा आरब्धा, तत्त्वनिर्णयश्च परमतेषु अश्रद्धां विना न सिध्यति, सा च तेषु भ्रान्तिमूलत्वनिश्चयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि अन्यमतोंके खण्डन की मुमुक्षुओंको अपेक्षा नहीं है ऐसा आक्षेप करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। पर पक्षका निराकरण किये बिना अपना मत स्थिर नहीं हो सकता इसलिए परपक्षका निराकरण करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। तब अपने पक्ष का स्थापन करनेके पहले परपक्षका खण्डन करना चाहिए था इसपर कहते हैं—"वेदान्तार्थ" इत्यादि। वेदान्ततात्पर्यका निर्णय सफल तत्त्वज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत होनेसे श्रेष्ठ है। परपक्षके खण्डन से रागद्वेष होता है इसलिए उसका खण्डन नहीं करना चाहिए ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। इस शास्त्रका जो आरम्भ किया गया है, उसका प्रधान फल तत्त्वका निर्णय करना ही है। और तत्त्वनिर्णयकी तबतक सिद्धि होनी कठिन है जबतक कि पर मतोंमें

भाष्य

परविद्वेषकरणेन। बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रय-

भाष्यका अनुवाद

साथ द्वेष फैलानेवाले अन्य मतका खण्डन करनेसे क्या प्रयोजन है? आपका कथन ठीक है, तो भी सांख्य आदि तन्त्र—शास्त्र महाजनों द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत हैं, और तत्त्वज्ञानके निरूपणके व्याजसे प्रवृत्त हुए हैं, उनको प्राप्त करके कितने ही मन्दमतियों की यह अपेक्षा हो कि ये भी तत्त्वज्ञानके लिए उपादेय—ग्राह्य हैं। उसी प्रकार उनमें दृढतर युक्तियोंका होना सम्भव है और वे सर्वज्ञसे उपदिष्ट हैं, अतएव उनमें मन्दमतियों की श्रद्धा भी हो सकती है, इसलिए 'वे शास्त्र असार हैं' ऐसा उपपादन करनेके लिए प्रयत्न

रत्नप्रभा

विना न सिध्यति, स चेमं पादं विना नेति स्वसिद्धान्तसंरक्षणार्थत्वात् प्रधानसिद्ध्यर्थत्वाद् अयं पादः अस्मिन् शास्त्रे संगतः, संगतत्वाद् वीतरागेणापि कर्तव्य इत्यभिसन्धाय उक्ताङ्गीकारेण समाधत्ते—बाढमित्यादिना। अपदेशेन—व्याजेन, मन्दमतीनां तेषु श्रद्धानिमित्तानि बहूनि सन्तीति तन्निरासाय यत्नः क्रियते इत्यर्थः। स्वमतश्रद्धापरमतद्वेषौ तु प्रधानसिद्ध्यर्थत्वाद् अङ्गीकृतौ, नापि अयं द्वेषः, परपक्षत्वबुद्ध्या हि निरासो द्वेषमावहति—न तु तत्त्वनिर्णयेच्छया कृत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अश्रद्धा न हो जाय। और अश्रद्धा तबतक नहीं हो सकती जबतक परपक्षोंकी भ्रान्तिमूलकताका निश्चय न हो जाय। इस पादके बिना वह निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए अपने सिद्धान्तका संरक्षण करने और ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए यह पाद इस शास्त्रमें संगत है। संगत होनेसे वीतरागपुरुषोंको भी इसका अध्ययन करना चाहिए ऐसा विचार कर पूर्वोक्तके अंगीकारसे समाधान करते हैं—'बाढम्' इत्यादिसे। अपदेश—व्याज। मन्दमतियोंकी उन दर्शनोंमें श्रद्धा होनेके अनेक कारण हैं। उनका खण्डन करनेके लिए यह प्रयत्न किया जाता है ऐसा तात्पर्य है। मुख्य सिद्धान्तकी सिद्धिके निमित्त अपने मतमें श्रद्धा और पर पक्षमें द्वेषका स्वीकार किया गया है। परन्तु वास्तवमें यह द्वेष नहीं है। यह दूसरेका पक्ष है इस बुद्धिसे यदि उसका खण्डन किया जाय तो वह द्वेषका कारण हो सकता है किन्तु तत्त्व निर्णयकी इच्छासे परपक्षका खण्डन द्वेष नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिए। पुनरुक्तिकी शङ्का करते

भाष्य

ष्यते । ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति । तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वं कृतम् । इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते इत्येष विशेषः ।

भाष्यका अनुवाद

किया जाता है । परन्तु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इत्यादि सूत्रोंसे पूर्वमें भी साँख्य आदि पक्षोंका खण्डन किया गया है, सो फिर पिष्टपेषण करनेसे क्या लाभ है ? इसका उत्तर कहते हैं । सांख्य आदि अपने अपने मतकी स्थापना करनेके लिए वेदान्तवाक्योंको उद्धृत कर स्वपक्षके अनुसार उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं । उनका जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानका आभास है, सम्यग् व्याख्यान नहीं है, इतना ही पूर्वमें प्रतिपादन किया गया है । इस पादमें तो वेदान्तवाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्ररूपसे उनकी युक्तियोंका प्रतिषेध किया जाता है, पूर्वके प्रतिषेध और इस प्रतिषेधमें इतना विशेष है ।

रत्नप्रभा

मन्तव्यम् । पौनरुक्त्यं शङ्कते—**नन्वीक्षतेरिति** । पूर्वं सांख्यादीनां श्रुत्यर्थानुग्राहकतर्कनिरासाद् अश्रौतत्वमुक्तम्, संप्रति श्रुत्यनपेक्षाः तदीयाः स्वतन्त्रा युक्तयो निरस्यन्त इति अर्थभेदात् न पुनरुक्तिः इत्याह—**तदुच्यत इति** ।

प्रधानम् अचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तः अत्र विषयः, स किं प्रमाणमूलो भ्रान्तिमूलो वा इति सन्देहे "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इत्युक्तधर्माणां प्रधाने सम्भवात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"नन्वीक्षतेः" इत्यादिसे पहले सांख्य आदिके श्रुत्यनुग्राहक तर्कोंका खण्डन कर उनका मत अश्रौत (श्रुतिविरुद्ध) कहा गया है, अब उनकी श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाली स्वतन्त्र युक्तियोंका खण्डन किया जाता है । इस प्रकार अर्थभेद—विषयभेद होनेसे पुनरुक्ति नहीं है ऐसा कहते हैं—"तदुच्यते" इत्यादिसे । अचेतन प्रधान जगत्का उपादान कारण है यह सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है । वह प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है ? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इस सूत्रमें कहे गये सब धर्मोंका प्रधानमें संभव

भाष्य

तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयाऽन्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत् सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत् त्रिगुणं प्रधानं मृद्व-

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंका यह मत है कि जैसे घट, शराव आदि विकार मिट्टीसे युक्त होनेके कारण मृत्तिकारूप असाधारणवाले कारण हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है, वैसे ही सब बाह्य और आध्यात्मिक विकार सुखदुःखमोहात्मकतासे युक्त हैं । इससे उनके असाधारण कारण सुख, दुःख और मोहात्मक ही हो सकते हैं। जो वह सुखदुःख-

---

रत्नप्रभा

तदेव उपादानमिति आक्षेपसंगत्या प्रमाणमूलत्वं दर्शयन् पूर्वपक्षमाह—**तत्र सांख्या इति** । स्वसिद्धान्तज्ञानस्य परमतनिरासं प्रति उपजीव्यत्वात् पादयोः संगतिः । परमतनिरासात्मकत्वात् सर्वेषाम् अधिकरणानां एतत्पादसंगतिः । पूर्वपक्षे प्रमाणमूलमतविरोधाद् उक्तश्रुत्यर्थसमन्वयासिद्धिः फलम् ; सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति आपादं द्रष्टव्यम् । मूलश्रौतसमन्वयदार्ढ्यार्थत्वाद् अस्य पादस्य श्रुतिसंगतिः इति विवेकः । भिद्यन्ते इति भेदाः विकाराः, ये विकारा येन अन्विताः ते तत्प्रकृतिका इति व्याप्तिमाह—**यथेति** । सर्वं कार्यं सुखदुःखमोहात्मकवस्तुप्रकृतिकम्, तदन्वितत्वाद्, धटादिवद्, इति अनुमानमाह—**तथेति** । किमर्थं प्रधानं परिणमते तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे प्रधान ही जगत्‌का उपादान कारण है इस प्रकार आक्षेप संगतिसे सांख्यसिद्धान्त प्रमाणमूलक है ऐसा दिखलाते हुए पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र सांख्या" इत्यादिसे । स्वसिद्धान्तका ज्ञान परमतके खण्डन करनेमें उपजीव्य—आधारभूत है इससे दोनों पादोंकी संगति जाननी चाहिए । इस पादके सब अधिकरण परमत खण्डनात्मक हैं, इसलिए सब अधिकरणोंकी पाद-संगति है । पूर्वपक्षमें प्रमाणमूलक सांख्यके विरोधसे ब्रह्ममें कहे गये श्रुत्यर्थसमन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ऐसा पादसमाप्ति तक समझना चाहिए । श्रुति-समन्वयको दृढ़ करना इस पादका प्रयोजन है, अतः इस पादकी श्रुतिके साथ संगति है ऐसा विवेक हैं । भिद्यन्ते—जो भिन्न होते हैं इस व्युत्पत्तिसे भेदका अर्थ विकार है । जो विकार जिससे अन्वित होते हैं, उनकी प्रकृति—उपादानकारण वही है ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । सब कार्य सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बने हैं, उससे अन्वित होनेसे, घट आदिके समान, ऐसा अनुमान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । प्रधान किसलिए परिणामको प्राप्त होता

भाष्य

दचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना प्रवर्तते इति । तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते ।

भाष्यका अनुवाद

मोहात्मक सामान्य है, वह त्रिगुणात्मक प्रधान है, मृत्तिकाके समान वह अचेतन पुरुषके भोग और मोक्षरूप अर्थको सिद्ध करनेके लिए स्वभावसे ही विचित्र विकाररूपसे प्रवृत्त होता है । उसी प्रकार कार्यगत परिमाण आदि लिंगोंसे उसी प्रधानका वे अनुमान करते हैं ।

रत्नप्रभा

चेतनस्येति । अर्थः—भोगापवर्गरूपः, तदर्थं स्वभावत एव प्रवर्तते, न तु केनचित् चेतनेन प्रेर्य्यते इत्यर्थः । तदुक्तम्—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (सां० का० श्लो० ३१) इति । अनुमानान्तराणि तैरुक्तानि स्मारयति—**तथेति** । उक्तं हि—

'भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ।।' (सां०का०श्लो० १५)

इति । अत्र कारिकायां समन्वयादिति लिङ्गं व्याख्यातम्, शिष्टानि व्याख्यायन्ते । तथा हि—क्षित्यादीनां भेदानां कारणम्, अव्यक्तमस्ति, परिमितत्वाद्, घटवत् । न च दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, घटोत्पत्तेः प्रागनभिव्यक्तघटादिरूपकार्यविशिष्टत्वेन मृदः अपि अव्यक्तत्वात् । तथा घटादीनां कारणशक्तितः प्रवृत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ? इसपर कहते हैं—"चेतनस्य" इत्यादिसे । अर्थात् चेतनके भोग और मोक्षरूप प्रयोजनके लिए प्रधान अपने आप प्रवृत्त होता है किसी चेतन द्वारा प्रेरित नहीं किया जाता । सांख्यकारिकामें—'पुरुषार्थ एव०' (भावी भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ ही करणोंको प्रवृत्त करता है, वे किसी चेतन द्वारा प्रवृत्त नहीं किये जाते) ऐसा कहा है । सांख्योंने जो अन्य अनुमान कहे हैं उनका स्मरण कराते हैं—"तथा" इत्यादिसे । कहा है कि 'भेदानां परिमाणात्०' (विकारोंके परिमाणसे, समन्वयसे, शक्तियोंकी प्रवृत्तिसे, कारणसे कार्यके विभाग होनेसे उसी प्रकार विचित्र विविध अविभागसे अव्यक्त—प्रधान सिद्ध होता है) [यह प्रधानसाधक तर्कोंका संग्राहक श्लोक है ।] इस कारिकाके 'समन्वयात्' इस लिङ्गका व्याख्यान हो गया है । शेषका व्याख्यान किया जाता है—पृथिवी आदि भेदोंका कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घट आदिके समान परिमित हैं । दृष्टान्तमें 'अव्यक्त कारण है' इस साध्यका अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटकी उत्पत्तिके पूर्व अभिव्यक्त न हुए घट आदि रूप कार्य विशिष्टत्वसे

भाष्य

तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत नाऽचेतनं लोके चेतना-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि दृष्टान्तके बलसे ही इसका

रत्नप्रभा

महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिः वाच्या, तच्छक्तिमत् कारणम् अव्यक्तम्। किञ्च, कारणात् कार्यस्य विभागो—जन्म दृश्यते। क्षितेः मृत्तिका जायते, ततो घट इति। एवमविभागः—प्रातिलोम्येन प्रलयो दृश्यते; घटस्य मृत्तिकायां लयः, तस्याः क्षितौ, क्षितेः अप्सु, अपां तेजसि इति एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य—विचित्रस्य भावजातस्य दृश्यमानौ पृथक् पक्षीकृतौ क्वचित् कारणे विश्रान्तौ, विभागत्वाद् अविभागत्वाच्च, मृदि घटविभागाविभागवद् इत्यर्थः।

सिद्धान्तयति—तत्र वदाम इति। किम् अनुमानैः अचेतनप्रकृतिकत्वं जगतः साध्यते, स्वतन्त्राचेतनप्रकृतिकत्वं वा? आद्ये सिद्धसाधनता, अस्माभिः अनादित्रिगुणमायाङ्गीकारात्। द्वितीये घटादिदृष्टान्ते साध्याप्रसिद्धिः इत्याह—यदीति। स्वतन्त्रमचेतनं प्रकृतिरिति एतद्दृष्टान्तबलेन तदा निरूप्येत, यदि दृष्टान्तः क्वचित् स्यात्, न तु दृष्टः क्वचिद् इति अन्वयः। स्वतन्त्रपदार्थमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

मृत्तिका भी अव्यक्त है इसी प्रकार घट आदि कार्योंकी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति होनेसे महद् आदि कार्योंकी भी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति कहनी चाहिए। वह शक्तियुक्त कारण अव्यक्त है। और कारणसे कार्यका जन्म दिखाई देता है। पृथिवीसे मिट्टी पैदा होती है, मिट्टीसे घट होता है। इसी प्रकार अविभाग अर्थात् उत्पत्तिसे उलटे क्रमसे प्रलय दिखाई देता है—घटका मिट्टीमें, मिट्टीका पृथिवीमें, पृथिवीका जलमें और जलका तेजमें लय होता है। इस प्रकार वैश्वरूपके—विचित्र पदार्थसमूहके ये विभाग और अविभाग जो देखे जाते हैं, वे दोनों पृथक् पृथक् पक्षरूपसे स्वीकृत हैं, वे दोनों किसी एक कारणमें विश्रान्त हैं, विभाग और अविभाग होनेसे मृत्तिकामें घटके विभाग और अविभागके समान ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष कहकर सिद्धान्त कहते हैं—"तत्र वदामः" इत्यादिसे। क्या अनुमानोंसे जगत् अचेतनप्रकृतिक है—जगत्‌की प्रकृति—उपादान कारण—अचेतन है, यह सिद्ध करते हो, या स्वतन्त्र अचेतन इस जगत्‌की प्रकृति है, ऐसा सिद्ध करते हो? प्रथम पक्ष यदि मानो, तो सिद्धसाधनता है—जो सिद्ध है उसीको सिद्ध करते हो, क्योंकि ईश्वरसे अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक मायाको जगत्‌की प्रकृतिरूपसे हम भी स्वीकार करते हैं। यदि द्वितीय पक्षका ग्रहण करो तो घट आदि दृष्टान्तोंमें साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति है, इसका दृष्टान्तसे तभी निरूपण किया जा सकता है, जब कहीं दृष्टान्त हो परन्तु दृष्टान्त कहीं भी दिखाई नहीं देता, ऐसा

भाष्य

नधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान् विकारान् विरचयद् दृष्टम् । गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते, तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं

भाष्यका अनुवाद

निरूपण किया जाय, तो लोकमें स्वतन्त्र—चेतनसे अनधिष्ठित अचेतन विशिष्ट पुरुषार्थके साधनमें समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। घर, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि कालके अनुसार सुखकी प्राप्ति और दुःखका परिहार करने योग्य पदार्थ बुद्धिमान् शिल्पियोंसे रचे गये देखनेमें आते हैं, वैसे भिन्न भिन्न कर्मफलके उपभोगके योग्य पृथिवी आदि बाह्य जगत् और भिन्न भिन्न जातियोंसे युक्त-असाधारण अवयवोंसे युक्त अनेक कर्मफलोंके

रत्नप्रभा

चेतनाधिष्ठितमिति । परकीयस्य साध्यस्य अप्रसिद्धिम् उक्त्वा सत्प्रतिपक्षं वक्तुं यद् विचित्ररचनात्मकं कार्यं तत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम् इति व्याप्तिमाह— गेहेति । इदं जगत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम्, कार्यत्वाद्, गेहवदिति प्रयोगः । विपक्षे विचित्ररचनानुपपत्तिरूपं सूत्रोक्तं बाधकतर्कं वक्तुं जगतो वैचित्र्यमाह— तथेति । बाह्यम्—पृथिव्यादि भोग्यम्, आध्यात्मिकम् शरीरादि च भोगाधिष्ठानमिति विभागः । प्रतिनियतः असाधारणः अवयवानां विन्यासो रचना यस्य तद् इत्यर्थः । इत्थं विचित्रं जगत् चेतनानधिष्ठिता जडप्रकृतिः कथं रचयेत् न कथमपि इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। स्वतन्त्र पदका अर्थ कहते हैं–"चेतनानधिष्ठितम्" इत्यादिसे। सांख्यका साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहकर हेतुका सत्प्रतिपक्ष कहनेके लिए 'जो विचित्र रचनात्मक कार्य है, वह चेतनसे अधिष्ठित अचेतनप्रकृतिक है—उसकी प्रकृति चेतनाधिष्ठित अचेतन है, ऐसी व्याप्ति कहते हैं— "गेह" इत्यादिसे। यह जगत् चेतनाधिष्ठित अचेतनसे बना है, कार्य होनेसे, घरके समान' ऐसा अनुमानका प्रयोग है। विपक्षमें सूत्रमें कहा हुआ विचित्ररचनानुपपत्तिरूप बाधक तर्क कहनेके लिए जगत्का वैचित्र्य कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जगत् दो प्रकारका है, बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्य—पृथिवी आदि भोग्य है और आध्यात्मिक—शरीर आदि भोगका अधिष्ठान है—ऐसा विभाग है। प्रतिनियत—असाधारण है अवयवोंकी रचना जिसकी, उसे प्रतिनियतावयव विन्यास कहते हैं। ऐसे विचित्र जगत्की चेतनसे अधिष्ठित न हुई जड प्रकृति कैसे रचना कर सकती है। किसी प्रकार भी रचना नहीं कर सकती—ऐसा

भाष्य

दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावितमैः शिल्पिभिर्मनसाऽप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् । लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण

भाष्यका अनुवाद

अनुभवका अधिष्ठानरूप दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत्, जिसकी आलोचना बड़े बड़े बुद्धिमान् शिल्पी मनसे भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है ? ढेले, पत्थर आदि अचेतनोंमें ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती । हां, मृत्तिका आदिमें भी कुम्भकार आदिसे अधिष्ठित होनेपर विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है । इसी प्रकार प्रधानको भी अन्य चेतनसे अधिष्ठित मानना पड़ेगा । मृत्तिका आदि उपादानके स्वरूपका आश्रय

रत्नप्रभा

यत् चेतनानधिष्ठितम् अचेतनं तत् न कार्यकारि इति व्याप्तिम् उक्ततर्कमूलभूतामाह—**लोष्टेति** । चेतनाप्रेरितेषु लोष्टादिषु कार्यकारित्वादर्शनाद् इत्यर्थः । किञ्च, अनादि-जडप्रकृतिः चेतनाधिष्ठिता, परिणामित्वात्, मृदादिवद् इत्याह—**मृदिति** । ननु मृदादिदृष्टान्ते द्वयमपि अस्ति—अचेतनत्वं चेतनाधिष्ठितत्वं चेति । तत्र परिणामित्वहेतोः अचेतनत्वमेव व्यापकम् मृदादिस्वरूपत्वेन अन्तरङ्गत्वात्, न तु चेतनाधिष्ठितत्वं व्यापकम्, तस्य मृदादिबाह्यकुलालादिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, तथा च परिणामित्वेऽपि मूलप्रकृतेः अचेतनत्वधर्मेणैव योगो न चेतनाधिष्ठितत्वेन इत्याशङ्क्य निषेधति—**न चेति** । महानसदृष्टान्तेऽन्तरङ्गस्यापि महानसस्वरूपस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है [जगत् स्वतन्त्र अचेतनका कार्य नहीं है, विचित्र कार्य होनेसे या विशिष्ट रचनात्मक होनेसे, विशिष्ट शिल्पीसे निर्माण किये हुए प्रासाद आदिके समान, ऐसा अनुमान है] जो अचेतन चेतनसे अधिष्ठित नहीं है, वह कार्यकारी नहीं है, उक्त तर्ककी मूलभूत इस व्याप्तिको कहते है—"लोष्ट" इत्यादिसे । आशय यह कि चेतनसे अधिष्ठित न हुए लोष्ट आदिमें कार्यकारित्व नहीं देखा जाता है । और 'अनादि' जड प्रकृति चेतनसे अधिष्ठित है, परिणामी होनेसे, मृत्तिका आदिके समान, ऐसा कहते हैं—"मृद्" इत्यादिसे । परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंमें अचेतनत्व और चेतनाधिष्ठितत्व दोनों हैं, उसमें परिणामित्व इस हेतुका अचेतनत्व ही व्यापक है, क्योंकि मृत्तिका आदिका स्वरूप होनेसे वह अन्तरंग है, चेतनाधिष्ठितत्व व्यापक नहीं है, क्योंकि उसको मृत्तिका आदिसे बाहर रहनेवाले कुलाल आदिकी अपेक्षा है, अतः वह बहिरंग है, इसलिए परिणामित्वमें भी मूल प्रकृतिका अचेतनत्व

भाष्य

मूलकारणमवधारणीयम्, न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किञ्चिद् विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते, सुखा-

भाष्यका अनुवाद

करके रहनेवाले धर्मसे ही मूल कारणका निश्चय करना चाहिए और बाह्य कुम्भकार आदिके आश्रित धर्मसे मूल कारणका निश्चय नहीं करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। और ऐसा होनेसे कुछ विरोध भी नहीं आता। चेतनको कारण मानने में उलटे श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारणका प्रतिपादन करती है। इसलिए रचनाकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे अचेतन जगत् कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। अन्वय आदिकी अनुपपत्ति होनेसे इस हेतुकी असिद्धिका चशब्दसे समुच्चय करते हैं, क्योंकि बाह्य और आध्यात्मिक विकारोंका सुखदुःखमोहात्मकताके साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता,

रत्नप्रभा

धूमव्यापकत्वं नास्ति, तद्भिन्नस्य बहिरङ्गस्यापि वह्नेः तदस्तीति अन्तरङ्गत्वं व्यापकत्वे प्रयोजकं न भवतीति भावः। किञ्च, यद् अचेतनम् तत् चेतनाधिष्ठितमेव परिणमते इति अङ्गीकारे बाधकाभावात् प्रत्युत श्रुत्यनुग्रहाच्च तथा अङ्गीकार्यमित्याह—**न चैवं सतीति**। सुखदुःखमोहान्वयाद् इति हेतोः असिद्धिद्योतनार्थः सूत्रे चकार इत्याह—**अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति**। न अनुमानं युक्तमित्यर्थः। आदिशब्दः परिमाणादिग्रहार्थः। शब्दादीनां बाह्यत्वानुभवाद् आन्तरसुखाद्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मसे ही योग है, चेतनाधिष्ठितत्वसे नहीं है, ऐसी आशंका करके उसका निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे। महानसदृष्टान्तमें यद्यपि महानसका स्वरूप अन्तरंग है, तो भी वह धूमका व्यापक नहीं है और उससे भिन्न अग्नि बहिरंग है, तो भी वह धूमकी व्यापिका है, इसलिए अन्तरंगत्व व्यापकत्वमें प्रयोजकत्व नहीं है, यह भाव है। और जो अचेतन है वह चेतनाधिष्ठित होकर ही परिणत होता है, उसके अङ्गीकारमें बाधक नहीं है। उलटा श्रुतिका अनुग्रह होता है, इसलिए अंगीकार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—"न चैवं सति" इत्यादिसे। 'सुखदुःखमोहका अन्वय' इस हेतुकी असिद्धि सूचित करनेके लिये सूत्रमें चकार है, ऐसा कहते हैं—"अन्वयाद्यनुपपत्तेश्च" इत्यादिसे। अनुमान युक्त नहीं है, यह अर्थ है। आदि शब्दस

भाष्य

दीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च। शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात् सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मि-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सुख आदि आन्तर हैं, ऐसा प्रतीत होता है, और शब्द आदि अतद्रूप प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार उनके निमित्तरूपसे प्रतीत होते हैं, और शब्द आदि विशेषके न होनेपर भी भावना विशेषसे सुख आदि विशेष प्राप्त होता है। इसी प्रकार मूलाङ्कुरादि परिमित विकार संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा देख-

रत्नप्रभा

त्वकत्वम् असिद्धम् तन्निमित्तत्वात् च। नहि निमित्तनैमित्तिकयोः अभेदेन योगः अस्ति, दण्डघटयोः अदर्शनाद् इत्यर्थः। किञ्च, यदि घटे मृद्वत् सुखादिकं शब्दादौ अन्वितं स्यात् तर्हि सर्वैः अविशेषेण सुखादिकम् उपलभ्येत घटे मृद्वत्, न तथा उपलब्धिः अस्तीति योग्यानुपलब्ध्या हेत्वभावनिश्चय इत्याह— **शब्दादीति**। विषयस्य एकत्वे अपि पुरुषवासनावैचित्र्यात् कस्यचित् सुखबुद्धिः कस्यचित् दुःखबुद्धिः। कस्यचित् मोहबुद्धिः दृश्यते, अतो विषयाः सुखाद्यात्मका न भवन्ति इत्यर्थः। एवं समन्वयादिति हेतुं दूषयित्वा परिमाणादिहेतून् दूषयति— **तथेति**। बुद्ध्यादीनां परिमितत्वेन संसर्गपूर्वकत्वसिद्धौ संसृष्टानि अनेकानि सत्त्वरजस्तमांसि सिध्यन्ति एकस्मिन् संसर्गासम्भवात् न ब्रह्मसिद्धिः इति सांख्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिमाण आदिका ग्रहण करना चाहिए। शब्द आदि बाह्य हैं, ऐसा अनुभव होनेसे वे आन्तर सुख आदि स्वरूप हैं, यह असिद्ध है, उसी प्रकार शब्द आदि तो सुखादिके निमित्त है, निमित्त और नैमित्तिकका अभेदसे सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि दण्ड और घटमें अभेद दिखाई नहीं देता, ऐसा भावार्थ है। और घटमें मृत्तिकाके समान शब्द आदि सुखादि नित्य अन्वित होते तो सबको समान रीतिसे उनमें सुखादिकी प्राप्ति होती, जैसे कि घटमें मृत्तिकाकी सबको उपलब्धि होती है, वैसे ही यहाँ भी होती, परन्तु वैसी उपलब्धि नहीं होती। इस योग्य अनुपलब्धिसे हेतुके अभावका निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"शब्दादि" इत्यादिसे। विषय यद्यपि एक ही है, तो भी पुरुषवासनाके वैचित्र्यसे किसीकी उसमें सुखबुद्धि, किसीकी दुःखबुद्धि और किसीकी मोहबुद्धि देखी जाती है, इससे विषयसुख आदि स्वरूप नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार 'समन्वयात्' इस हेतुको दूषित करके परिणाम आदि हेतुओंको दूषित करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। बुद्धि आदि परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर संसृष्ट अनेक सत्त्व, रज और तम हैं, ऐसा सिद्ध होता है। एकमें संसर्ग न होनेसे

भाष्य

कानां भेदानां परिमितत्वात् संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षा-

भाष्यका अनुवाद

कर बाह्य और आध्यात्मिक विकार परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा अनुमान करनेवालोंको सत्त्व, रज और तम भी संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व समान है। अपेक्षापूर्वक निर्माण किये हुए

रत्नप्रभा

स्य भावः। किमिदं परिमितत्वम्? न तावद् देशतः परिच्छेदः, पक्षान्तर्गताकाशे तस्याभावेन भागासिद्धेः, नापि कालतः परिच्छेदः, सांख्यैः कालस्य अनङ्गीकारात्, अविद्यागुणसंसर्गेण सिद्धसाधनाच्च, नापि वस्तुतः परिच्छेदः, सत्त्वादीनां परस्परं भिन्नत्वे सत्यपि साध्याभावेन व्यभिचाराद् इत्याह—**सत्त्वेति**। यदुक्तं कार्यकारणविभागो यत्र समाप्यते तत् प्रधाननिति। तत् न, ब्रह्मणि मायायां वा समाप्तिसम्भवात्। न च यः कार्यस्य विभागः स चेतनानधिष्ठिते अचेतने समाप्तः इति व्याप्तिरस्ति सर्वत्र अचेतनेषु चेतनानधिष्ठानदर्शनाद् इत्याह—**कार्येति**। एतेन अविभागोऽपि व्याख्यातः। यत्तु यत् परिमितं तद् अव्यक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म असिद्ध है, ऐसा सांख्यका आशय है। यह परिमितत्व क्या है? परिमितत्वका देशसे[1] परिच्छेद, ऐसा अर्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि पक्षमें[2] अन्तर्गत हुए आकाशमें, ऐसे परिच्छेदका अभाव होनेसे हेतुमें भागासिद्ध[3] दोष होगा। इसी प्रकार परिमितत्वका अर्थ कालसे परिच्छेद, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सांख्य कालका अङ्गीकार नहीं करता [पच्चीस तत्त्वोंसे अतिरिक्त कालका वह अङ्गीकार नहीं करता] अविद्यागुण संसर्गरूप उपाधिसे कालका अङ्गीकार किया है, ऐसा यदि कहो तो सिद्धसाधनता दोष होगा। उसी प्रकार वस्तुसे परिच्छेद भी परमितत्वका अर्थ नहीं है, क्योंकि सत्त्व, आदि परस्पर भिन्न हैं, तो भी साध्यके अभावसे व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। और कार्यकारणभाव जिसमें समाप्त होता है, वह प्रधान है, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममें या मायामें इस समाप्तिका सम्भव है। कार्यका विभाग चेतनसे अधिष्ठित न हुआ अचेतनमें समाप्त है, ऐसी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अचेतनमें चेतनका अधिष्ठान देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। इससे सांख्यकारिकाके 'अविभाग' हेतुका भी प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए।

१—इयत्ता, इतना प्रदेश।

२—"सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव अविभक्त ऐसी एक वस्तु जिनकी प्रकृति है, ऐसे हैं, परिमित होनेसे, घट आदिके समान" इस अनुमानमें "सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव" पक्ष है।

३—सब पक्षमें न रहे किन्तु पक्षके एक देशमें ही रहे वह हेतु भागासिद्ध है।

भाष्य

पूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद् बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

शयन, आसन, आदिका कार्य-कारणभाव देखनेमें आता है, कार्य-कारणभावसे बाह्य और आध्यात्मिक विकार अचेतनप्रकृतिक हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

प्रकृतिपूर्वकम् इति व्याप्त्यन्तरं तस्यापि गुणेषु अनादिषु परिमितेषु व्यभिचारः । एतेन सदृशयोः एव प्रकृतिविकारभावाद् अचेतनविकाराणाम् अचेतनमेव प्रकृतिः इति निरस्तम् । चेतनाधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वेऽपि सादृश्योपपत्तेः । "न विलक्षत्वाद्" (ब्र० सू० २।१।५) इत्यत्र सादृश्यनियमस्य निरस्तत्वाच्च । एवं चेतनाधीनकारणशक्तितः कार्यप्रवृत्तिसम्भवात् शक्तितः प्रवृत्तिलिङ्गम् अन्यथासिद्धिम् इति भावः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो परिमित है, वह अव्यक्त—प्रधान प्रकृतिवाला है, यह जो दूसरी व्याप्ति सांख्यों द्वारा कही गई है, उसका भी अनादि परिमित गुणमें व्यभिचार है। इसलिए सदृशका ही प्रकृतिविकारभाव होनेसे अचेतन विकारोंकी अचेतन ही प्रकृति है, इस पक्षका निरसन हुआ समझना चाहिए, क्योंकि चेतनसे अधिष्ठित अचेतन प्रकृति लेनेसे भी सादृश्य उपपन्न होता है। "न विलक्षणत्वात्" इसमें सादृश्य नियमका निराकरण किया गया है। इस प्रकार चेतनके अधीन कारणशक्तिसे कार्यप्रवृत्तिका संभव होनेसे शक्तिसे प्रवृत्ति, यह लिङ्ग अन्यथासिद्ध है, ऐसा समझना चाहिए ॥१॥

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

पदच्छेद—प्रवृत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—प्रवृत्तेः—अचेतनस्य प्रधानस्य साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपप्रवृत्तेः । [चेतनमन्तरेण] च—अनुपपत्तेः [न प्रधानं जगत्कारणम्] ।

भाषार्थ—अचेतन प्रधानकी साम्यावस्थाप्रच्युतिरूप प्रवृत्तिकी चेतनके बिना उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

भाष्य

आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात् प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाऽचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद् रथादिषु

भाष्यका अनुवाद

इस रचनाको रहने दो, उसकी सिद्धिके लिए जो प्रवृत्ति—सत्त्व, रज और तम—गुणोंकी साम्यावस्थासे च्युति, सत्त्व, रज और तमके अंगांगिभावकी आपत्ति, विशिष्ट कार्योंके उत्पादनमें जो प्रवृत्ति है, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें नहीं घट सकती, क्योंकि मृत्तिका आदिमें और रथ आदिमें वह नहीं

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रम् अचेतनं करणत्वेन न अनुमातव्यम्, तस्य सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तेः अनुपपत्तेः इति चकारेण अनुपपत्तिपदम् अनुषज्य सूत्रं योजनीयम्। रचना-प्रवृत्त्योः को भेद इत्याशङ्क्य प्रवृत्तिस्वरूपमाह—साम्येति। गुणानां किल साम्यावस्था तत्त्वानां प्रलयः, तदा न किञ्चित् कार्यं भवति प्रलयाभावप्रसङ्गात्, किंतु आदौ साम्यप्रच्युतिरूपं वैषम्यं भवति ततः कस्यचिद् गुणस्य अङ्गित्वम् उद्भूतत्वेन प्राधान्यं, कस्यचिद् अङ्गत्वं शेषत्वमिति अङ्गाङ्गिभावो भवति, तस्मिन्सति महदादिकार्योत्पादनात्मिका प्रवृत्तिः, तया विविधकार्यविन्यासो रचना इति भेद इत्यर्थः। गुणानां प्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठानपूर्विका, प्रवृत्तित्वाद्, रथादि-प्रवृत्तिवत् इत्याह—सापीति। विपक्षे स्वतन्त्रे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अचेतन-प्रधान स्वतन्त्ररूपसे कारण है ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिए क्योंकि सृष्टिके लिए उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है इस प्रकार चकारसे इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'अनुपपत्ति' पदकी अनुवृत्ति कर सूत्रकी योजना करनी चाहिए अर्थात् 'प्रवृत्तेश्चानुपपत्तेर्नानुमानं कारणम्' (प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिसे प्रधान कारण नहीं है) ऐसी सूत्रकी योजना है। रचना और प्रवृत्तिमें क्या भेद है ऐसी आशंका करके प्रवृत्तिका स्वरूप कहते हैं—"साम्य" इत्यादिसे। गुणोंकी साम्यावस्था तत्त्वोंका प्रलय है, उस अवस्थामें कुछ भी कार्य नहीं होता। उस अवस्थामें यदि कोई कार्य होने लगे तो प्रलयका ही अभाव मानना पड़ेगा। आरम्भमें गुणोंकी साम्यप्रच्युति-रूप वैषम्य होता है। तदनन्तर उद्भूत होनेके कारण किसी एक गुणका प्राधान्य और तिरोभूत होनेके कारण अन्यगुणोंका अंगत्व–शेषत्व होता है इस तरह गुणोंका अङ्गाङ्गिभाव होता है। और ऐसा होनेपर महत्, अहङ्कार इत्यादि कार्योत्पादनरूप प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिसे जो विविध कार्यविन्यास होता है वह रचना है। प्रवृत्ति और रचनामें ऐसा भेद है—ऐसा भाव है। गुणोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठानपूर्वक है, प्रवृत्ति होनेसे, रथादिकी प्रवृत्तिके समान ऐसा कहते हैं—

भाष्य

च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वाऽनधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चाऽदृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्, तथापि चेतन-

भाष्यका अनुवाद

देखी जाती। मृत्तिका आदि या रथ आदि स्वयं अचेतन होने से चेतन कुम्भकार आदि या अश्व आदिसे अधिष्ठित हुए बिना विशिष्ट कार्यकी ओर प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते और दृष्टसे अदृष्टकी सिद्धि होती है। इसलिए प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे भी अचेतन प्रधान जगत्का कारण है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। परन्तु केवल चेतनकी भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। यह ठीक है, तो भी

रत्नप्रभा

केचित्तु भेदानां प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वात् चेतनानधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वमिति शक्तितः पवृत्तिः इति लिङ्गं व्याचक्षते। अस्य अपि गुणेषु व्यभिचारः। कार्यत्वविशेषणे च विरुद्धता, प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वे सति कार्यत्वस्य घटादिषु चेतनाधिष्ठितप्रकृतिकत्वेन उक्तसाध्यविरुद्धेन व्याप्तिदर्शनाद् इति "प्रवृत्तेश्च" इति सूत्रेण ज्ञापितम्। ननु लोके स्वतन्त्राचेतनानां प्रवृत्त्यदर्शनेऽपि प्रधाने सा प्रवृत्तिः सिध्यतु, तत्र आह—दृष्टाच्चेति। अनुमानशरणस्य तव दृष्टान्तं विना अतीन्द्रियार्थसिद्ध्ययोगात् इति भावः। ननु प्रधानस्य प्रवृत्तिं खण्डयता चेतनस्य सृष्टौ प्रवृत्तिः वाच्या, सा न युक्ता इति सांख्यः शङ्कते—नन्विति। शुद्धचेतनस्य प्रवृत्त्ययोगम् अङ्गीकरोति—सत्यमिति। तर्हि केवलस्य अचेतनस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सापि" इत्यादिसे। अर्थात् परपक्षमें स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति नहीं है। कोई लोग पदार्थोंके शक्तिशाली होनेसे चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनसे जगत् उत्पन्न हुआ है इसप्रकार 'शक्तितः प्रवृत्तिः' इस हेतुकी व्याख्या करते हैं। इसका भी गुणोंमें व्यभिचार है। 'कार्यत्व' विशेषण देनेपर विरोध आता है, क्योंकि प्रवृत्तिशक्तियुक्त कार्यताकी घट आदिमें उक्त व्याप्तिसे विरुद्ध चेतनसे अधिष्ठित प्रकृतिकत्वरूपसे व्याप्ति देखी जाती है ऐसा 'प्रवृत्तेश्च' इस सूत्रसे ज्ञापित होता है। यदि कोई कहे यद्यपि लोकमें अचेतन पदार्थोंमें स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, तो भी प्रधानमें वह प्रवृत्ति सिद्ध हो? इसपर कहते हैं—"दृष्टाच्च" इत्यादिसे। तुम अनुमानशरण सांख्य हो दृष्टान्तके बिना तुम्हारे मतमें अतीन्द्रियवस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा अभिप्राय है। प्रधानमें प्रवृत्तिका निषेध करनेवाले सिद्धान्तीको चेतनमें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, वह युक्त नहीं है सांख्य ऐसी शङ्का करता है—"ननु" इत्यादिसे। केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं

भाष्य

संयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन् प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सोत यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति।

ननु यस्मिन् दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तम्, उभयोः प्रत्यक्षत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

चेतनसंयुक्त रथ आदि अचेतनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है और अचेतनसंयुक्त चेतनमें प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती। परन्तु यहां क्या युक्त है? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी वह प्रवृत्ति है या जिसके संयोगसे अचेतनमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी है?

पूर्वपक्षी—जिसमें प्रवृत्ति दीखती है वह उसीकी है, ऐसा ही कहना ठीक है, क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं, परन्तु केवल चेतन रथ

रत्नप्रभा

प्रवृत्तिसिद्धिः अन्यथा सृष्ट्ययोगात्, तत्राह—तथापीति। केवलस्य चेतनस्य अप्रवृत्तौ अपि चेतनाऽचेतनयोः मिथः सम्बन्धात् सृष्टिप्रवृत्तिः इति भावः। इमं वेदान्तसिद्धान्तं सांख्यो दूषयति—न त्विति। सर्वा प्रवृत्तिः अचेतनाश्रयैव दृष्टा, न तु अचेतनसम्बन्धेनापि चेतनस्य क्वचित् प्रवृत्तिः दृष्टा, तस्मात् न चेतनात् सृष्टिः इत्यर्थः। मतद्वयं श्रुत्वा मध्यस्थः पृच्छति—किं पुनरिति। यस्मिन् अचेतने रथादौ प्रवृत्तिः दृष्टा तस्यैव सा, न चेतनः तत्र हेतुः इति किं सांख्यमतं साधु, उत येन चेतनेन अश्वादिना संयोगात् अचेतनस्य प्रवृत्तिः तत्प्रयुक्ता सेति वेदान्तिमतं वा साधु इति प्रश्नार्थः। सांख्य आह—नन्विति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

देखी जाती यह स्वीकार करते हैं-"सत्यम्" इत्यादिसे। तो यद्यपि केवल अचेतनमें प्रवृत्ति सिद्ध होगी अन्यथा सृष्टि नहीं होगी? इसपर कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं होती, तो भी चेतन और अचेतनके परस्पर सम्बन्धसे सृष्टिकी प्रवृत्ति होगी ऐसा अभिप्राय है। वेदान्तीके इस सिद्धान्तको सांख्य दूषित करता है—"न तु" इत्यादिसे। सब प्रवृत्ति अचेतनके ही आश्रित देखी गई है, परन्तु अचेतनके सबन्धसे भी चेतनमें कहीं भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं होती ऐसा सांख्यका अभिप्राय है। दोनों मतोंको सुनकर मध्यस्थ पूछता है—"किं पुनः" इत्यादिसे। अचेतन रथ आदिमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह उसीकी है, उसमें चेतन कारण नहीं है यह सांख्यमत अच्छा है अथवा जिस चेतन अश्व आदिके संयोगसे अचेतनकी प्रवृत्ति होती है उसकी है, यह वेदान्तमत अच्छा है यह प्रश्नका अर्थ है। सांख्य कहता है-"ननु" इत्यादिसे। उभयोः-दोनोंको अर्थात् प्रवृत्ति